कृष्ण-गीता

लेखक—

दरबारीलाल सत्यभक्त

संस्थापक-सत्यसमाज

प्रकाशक—

सत्याश्रम वर्धा (सी.पी)

मार्च १९३९ ई.

फाल्गुण १९९५ ई.

मूल्य बारह आणे

प्रकाशक—
सूरजचन्द सत्यप्रेमी
सत्याश्रम वर्धा [सी. पी.]



मुद्रक—
मैनेजर—
सत्येश्वर प्रिंटिंग प्रेस
वर्धा (सी. पी.)

अध्याय-सूची



श्रीकृष्ण–पनिहारी की तरह मनको विभक्त कर (गीत १३) स्थितिप्रज्ञ वन और कर्मकर।

चौथा अध्याय— (स्थिति-प्रज्ञ) पृ. २०

स्थितिप्रज्ञ का स्वरूप—सत्य अहिंसा पुत्र, धर्म-जातिवर्ण लिंग-कुल-समभावी, निःपक्ष, विचारक, इन्द्रियवशी, मनोजयी, अहिंसक और न्यायरक्षक, शीलवान्, अपरिग्रही, मदहीन, नीतिमान्, निःकषाय, पुरुषार्थी, कलाप्रेमी, कर्मठ, निर्द्वन्द, यश अयश का जयी, सेवाके पारितोषक से लापर्वाह, उत्साही सच्चा साधु जो हो वही स्थितिप्रज्ञ है ऐसा स्थितिप्रज्ञ वनकर कर्मकर।

पाँचवाँ अध्याय—(सर्व-जाति-समभाव) पृष्ठ २७

अर्जुन के द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति और शंका-जाति-समभाव क्यों ? क्या विषमता आवश्यक नहीं है। श्रीकृष्ण का उत्तर—विषमता आवश्यक है पर समताहीन नहीं (गीत १४) मनुष्य जाति एक है उसमें जाति भेद न वना (गीत १५) जातियाँ कर्म-प्रधान हैं (गीत १६) जाति-भेद बाज़ार की चीज़ है, देशकाल देखकर सुविधानुसार रखना चाहिये, मंद न करना चाहिये [गीत १७]। अर्जुन–जातिभेद प्राकृत न हो पर निःसार क्यों ? वह कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल क्यों ? श्रीकृष्ण—जातिभेद जब वेकारी दूर करता था और वैवाहिक आदि स्वतंत्रता में बाधक न था तब अच्छा था अब वह विकृत है। भेद रहे पर जाति–भेद बनकर नहीं, ज़ाति–मोह की बुराइयाँ, तू जाति–कुल कुटुम्ब आदि का मोह छोड़ और कर्म कर।

छट्ठा अध्याय— (नर-नारी-समभाव) पृ: ३७

अर्जुन—नर नारी में वैषम्य है फिर सर्व-जाति-समभाव कैसे ? श्रीकृष्ण—दोनों में गुण दोष हैं ? वैषम्य परिस्थिति-जन्य है, पत्नी शब्द का अर्थ, शारीरिक विषमता पूरक है, दोनों के सम्मिलन में पूर्णता है, घर और बाहर के भेद ने विषमता बनाई, नर नारी समभाव होता तो द्रौपदी का अपमान न होता उस समभाव के लिये कर्म कर।

सातवाँ अध्याय— (अहिंसा) पृष्ठ ४५

अर्जुन—मैं सब जगह समभाव रखने को तैयार हूं पर पुण्य पाप समभाव कैसे रक्खूं ? तुम अहिंसा और हिंसा में समभाव रखने को क्यों कहते हो ? श्रीकृष्ण-बाहिरी हिंसा को ही हिंसा न समझ, कभी हिंसा अहिंसा हो जाती है कभी अहिंसा हिंसा। हिंसा के पांचभेद-स्वाभाविकी, आत्मरक्षिणी, पररक्षिणी, आरम्भजा, संकल्पजा, 'इन में पांचवां भेद त्याज्य है।' अहिंसा के छः भेद-बंधुत्वजा, अशक्तिका, निरपेक्षिणी, कापटिकी, स्वार्थजा, मोहजा। इनमें से बंधुत्वजा अहिंसा ही वास्तविक अहिंसा है। तेरी अहिंसा मोहजा है उसका धर्म से सम्बन्ध नहीं और तेरी हिंसा आत्मरक्षिणी है। हिंसा अहिंसा निरपेक्ष नहीं सापेक्ष हैं। तू हिंसा अहिंसा का निर्णय विश्व-कल्याण की दृष्टि से करके कर्तव्य कर।

आठवाँ अध्याय— [सत्य] पृष्ठ ५४

अर्जुन—यदि हिंसा अहिंसा सापेक्ष हैं तो कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता। सत्य तो निश्चित और एकसा होता है। सत्य के अभाव में धर्म नहीं रह सकता। श्रीकृष्ण—तू तथ्य और सत्य का भेद

समझ (गीत १८) सत्य कल्याण की अपेक्षा रखता है। तथ्य भी सत्य असत्य होता है अतथ्य भी सत्य असत्य होता है। तथ्य के चार भेद--विश्वास-वर्धक, शोधक, पापोत्तेजक, निंदक। अतथ्य के छः भेद--वंचक, निंदक, पुण्योत्तेजक, स्वरक्षक, पररक्षक, विनोदी। जहां न्यायरक्षण है वहां सत्य है जहां सत्य है वहां अहिंसा है इन्हें समझ और कर्तव्य मार्ग में आगे बढ़।

नवमाँ अध्याय— (यमत्रिक) पृष्ठ ६२

अर्जुन—सारा जगत चंचल है (गीत १९) पर अगर सत्य अहिंसा रूप धर्म-चंचल हों तो अपरिग्रह शील आदि सब चंचल होजाँयगे। जगत में पाप की गर्जना होगी इसलिये पुण्य पाप के निश्चित भेद बताओ।

श्रीकृष्ण का वक्तव्य--सत्य और अहिंसा मूल में अचंचल हैं, उनके विविध रूप चंचल हैं। ब्रह्म माया का दृष्टांत [गीत नं. २०] सत्य अहिंसा अचंचल हैं इसीलिये सभी अचंचल हैं, अचौर्य शील और अपरिग्रह का निश्चित और सापेक्ष रूप। इसके लिये अंतर्दृष्टि की प्रेरणा। उससे कर्तव्य-निर्णय कर और आगे बढ़।

दसवाँ अध्याय (कर्तव्य-निकष)

अर्जुन के द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति [गीत २१] कर्तव्य-निर्णय की कसौटी का प्रश्न। श्रीकृष्ण--जगत सुख चाहता है, वही कसौटी है। अर्जुन--यदि सुख--वर्धन कसौटी है तो सुख के लिये किये जानेवाले सब पाप धर्म होजायेंगे। श्रीकृष्ण--पाप से अणु भर सुख मिलता है और दुःख पर्वत के समान। सुखवर्द्धन में अपना

ही नहीं सब का विचार कर। अर्जुन—जब सुख ध्येय है तो पर की चिन्ता क्यों? श्रीकृष्ण—जगत के कल्याण में ही व्यक्ति का कल्याण है [गीत २२] जितना ले उससे अधिक देने का प्रयत्न हो। अर्जुन—लेने देने के झगड़े में क्यों पड़ूं? श्रीकृष्ण—हर एक व्यक्ति समाज का ऋणी है वह ऋण चुकाना ही चाहिये। अर्जुन-जिससे लें उसी को दें सब को क्यों? श्रीकृष्ण-सभी ऐसा सोचलें तो तुझे पहले कौन देगा? व्यक्ति की चिन्ता न कर, समाज पर नज़र रख। सब से ले, सब को दे, इस प्रकार सुखी बन। अर्जुन—एक को सुखी करने से दूसरे को दुःख होता है क्या किया जाय? श्रीकृष्ण-जिससे विश्व अधिक सुखी हो वही कर्तव्य समझ और आत्मौपम्य विचार से कर्तव्य का निर्णय कर। हर तरह बहुजन को सुखी बनाने की कोशिश कर। अर्जुन-बहुजन तो पापी हैं, रावण और दुर्योधन का ही दल बहुत है। क्या पाप की जय होने दूँ? श्रीकृष्ण-वर्तमान ही मत देख, सार्वकालिक और सार्वदेशिक दृष्टि से विचार कर, उसमें बहुजन न्याय के ही पक्ष में है। इस तरह अपना कर्तव्य निर्णय कर, संमोह छोड़, नपुंसक न बन और कर्तव्य कर।

ग्यारहवाँ अध्याय [पुरुषार्थ] पृ. ८०

अर्जुन—सुख की परिभाषा बताओ। सुख भीतर की वस्तु है या बाहर की? क्या यही पुरुषार्थ है? अथवा पुरुषार्थ क्या है? श्रीकृष्ण—सुख दुःख के लक्षण। काम और मोक्ष दो मूल पुरुषार्थ। अर्थ और धर्म उनके साधन। काम और मोक्ष का स्वरूप। दोनों की आवश्यकता। अर्जुन—मोक्ष का यहाँ क्या उपयोग? वह तो मरने के बाद की चीज़ है। श्रीकृष्ण-मोक्ष यहीं है [गीत २३]

तू चारों पुरुषार्थ प्राप्त कर । अर्जुन-एक ही तो दुर्लभ है चार चार की क्या बात ? श्रीकृष्ण-चारों तेरे हाथ में हैं (गीत २४) अर्जुन-जब मोक्ष यहीं है तो और पुरुषार्थों का क्या उपयोग ? श्रीकृष्ण-तीनों के बिना मोक्ष नहीं रह सकता । चारों का अलग २ वर्णन । काम के सात्विक, राजस तामस आदि भेद । काम और मोक्ष दोनों का समन्वय । यहां चारों पुरुषार्थ संकटापन्न हैं इसलिये उठ । अधर्म की माया को दूर कर । यही सब धर्मों का मर्म है ।

बारहवाँ अध्याय [सर्व-धर्म-समभाव] पृ. ९१

अर्जुन--सब धर्मों का अगर एक ही सार है तो उनमें अहिंसा हिंसा, प्रवृत्ति निवृत्ति, मूर्ति अमूर्ति, वर्ण अवर्ण, त्याग, भक्ति आदि का भेद क्यों ? श्रीकृष्ण-मूल में सब एक हैं [गीत २५] हिंसा अहिंसा समन्वय, पशु यज्ञ, इन्द्रिय यज्ञ, कर्मयज्ञ, धनयज्ञ, श्रमयज्ञ, मानयज्ञ, तृष्णायज्ञ, क्रोधयज्ञ, विद्यायज्ञ, औषधयज्ञ, प्राणयज्ञ, कीर्तियज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, आदि सात्विकयज्ञ, राजसयज्ञ, तामसयज्ञ । प्रवृत्ति निवृत्ति समन्वय, मूर्ति अमूर्ति समन्वय, वर्ण-व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, भक्ति, त्याग, सब धर्म निर्विरोध हैं और वे कर्मयोग का संदेश देते हैं इसलिये तू न्याय रक्षण के लिये कर्म कर ।

तेरहवाँ अध्याय [धर्म शास्त्र] पृ. १०४

अर्जुन-के द्वारा कृष्ण-स्तुति [गीत नं. २६] उसका प्रश्न-धर्म जब एक हैं तो उनके दर्शन भिन्न क्यों ? श्रीकृष्ण का वक्तव्य-धर्म शास्त्र का स्थान [गीत नं. २७] दर्शनादि शास्त्रों की जुदाई । अर्जुन-मुक्ति, ईश्वर, परलोक आदि धर्म में न रहें तो धर्म क्या रहे ? श्रीकृष्ण--विश्वहित ही धर्म है । मुक्ति की मान्यता पर विचार ।

ईश्वर मान्यता पर विचार। निरीश्वरवादी जगत् [गीत २८] अकर्मवादी जगत् [गीत २९] वास्तविक ईश्वरवाद और कर्मवाद। परलोक-विचार। द्वैताद्वैताविचार। वास्तविक द्वैताद्वैत। किसी भी दर्शन में धर्म के प्राण डालकर विश्व-हित के लिये कर्तव्य कर। न्याय को विजयी बना, अन्याय को पराजित कर।

चौदहवाँ अध्याय (विराट् दर्शन) पृ. ११९

अर्जुन–विविध धर्म-ग्रन्थों का निर्णय कैसे करूँ? श्रद्धा और तर्क की असफलता। श्रीकृष्ण–श्रद्धा और तर्क दोनों का मेल कर। श्रद्धा के सत्व रजस् तम भेद। तर्क का उपयोग। अर्जुन-तर्क कल्पना रूप है, उसका विचार व्यर्थ है। श्रीकृष्ण-तर्क अनुभवों का निचोड़ है, उसमें कल्पना का मिश्रण न कर। देव, शास्त्र, गुरु सब की परीक्षा कर। अर्जुन–देव, शास्त्र, गुरु बहुत हैं, मैं कैसे पहचानूँ? श्रीकृष्ण-देव वर्णन, गुणदेव, व्यक्तिदेव (गीत ३०) शास्त्र, विधि-शास्त्र, दृष्टांत शास्त्र। गुरु, गुरु की असाम्प्रदायिकता, गुरु-कुगुरु का अंतर। तू विचारक बन और दुनिया को पढ़, (गीत ३१) तुझे भगवान सत्य का विराट् दर्शन होगा। अर्जुन का विराट् दर्शन, सत्येश्वर का विराट् रूप, अर्जुन की निर्मोहता और कर्तव्य तत्परता।

[समाप्त]





प्रस्तावना



हज़ारों वर्ष बीत गये किन्तु योगेश्वर श्री कृष्ण का सन्देश जो महाभारत में गीता के नाम से विख्यात है वह आज भी मानव-समाज के लिये पथ-प्रदर्शक है।

कृष्णार्जुन-संवादरूप वह संदेश घर घर में काफ़ी आदर पूर्वक पढ़ा जाता है क्योंकि उसमें धर्म की व्यापकता है, वैदिक धर्म की संकुचितता गीता में नहीं दिखाई देती। उसमें तो हिन्दू-धर्म की उदारता है। वैदिक-धर्म में निरर्थक क्रिया-कांड हैं, वर्ण की कट्टरता है, वह एक संकुचित सम्प्रदाय है पर वेद नाम का आधार रहने पर भी हिन्दू-धर्म के नाम से जो चीज़ तैयार हुई उसमें असाधारण विशालता है। उसमें नाना देव, नाना रीति रिवाज़, नाना विचार आदि का अद्भुत समन्वय हुआ है और उसका बीज हमें श्रीमद्भगवद्गीता में मिलता है।

हिन्दू-धर्म को जो उदार रूप प्राप्त हुआ है उसमें गीता का ही सब से बड़ा हाथ है। निःसन्देह हिन्दू नाम पीछे का है पर चीज़

पहिले की है । वैदिक-धर्म में जो विचारपूर्ण क्रान्ति शताब्दियों तक होती रही उसी का स्थिररूप हिन्दू-धर्म है । हिन्दू-धर्म ने श्रमण और ब्राह्मण, आर्य और अनार्य संस्कृतियों का मिश्रण करके धर्म का और समाज का एक सुन्दर रूप जगत के सामने रक्खा था। गीता में उसी का बीज है। 'वेद वादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः " कह कर वैदिक-धर्म की संकुचितता का दूसरे अध्याय में ज़ोरदार विरोध किया गया है ।

गीता की लोकप्रियता देख कर हरएक सम्प्रदाय के आचार्य ने इस महान ग्रंथ का मन-सम्मत अर्थ निकाला है किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि गीता-ज्ञान का ध्येय कर्मयोग का प्रतिपादन ही है, अगर श्री कृष्ण को कोई अन्य योग्य इष्ट था तो युद्ध से विरक्त मोह--युक्त अर्जुन उसे सुन कर घोर संग्राम के लिये तय्यार न हो जाता "क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप' के उत्तर में 'करिष्ये वचनं तव' की प्रतिज्ञा कर्मयोग के सिवाय और क्या हो सकती है !

श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण ऐतिहासिक हों या न हों परन्तु भारतीय साहित्य में, धर्म में और समाज में वे इस तरह बस गये हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। संस्थापक सत्य-समाज ने उन्हें ऐतिहासिक महात्मा माना है । उनका जीवन ऐसा सर्वांग पूर्ण था कि विद्वानों ने 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' कहकर उन्हें भगवान का पूर्णावतार कहा है । वे ऐसे परमयोगी, वीर, सदाचारी, जनसेवक, सुधारक विचारक,

कलाप्रेमी, विनयी, त्यागी, चतुर और समय-द्रष्टा थे कि उनको पूर्णावतार कहने में कुछ भी अनौचित्य नहीं है ।

हिन्दू-धर्म के संस्थापक रूप में अगर श्रीकृष्ण को माना जाय तो भी कोई अत्युक्ति न होगी । निःसन्देह वे इतने पुराने हैं कि उनके उपदेशों का विशेषरूप पाना कठिन है पर कुछ सामान्य बातें अवश्य मिल सकती हैं, जैसे कर्मयोग, दर्शन और धर्मों का समन्वय, सुधारकता आदि । इन्हीं सामान्य बातों के आधार पर उनके नाना विशेषरूप चित्रित किये जा सकते हैं ।

गीता का नूतन रूप

इस जगह यह सब लिखने का प्रयोजन यह है कि सत्य-समाज के संस्थापक ने प्रस्तुत पुस्तक में उस कर्म-योग-संदेश को ऐसे नूतन रूप में प्रतिपादित किया है कि जो उस समय के लिये पूर्ण संगत होने के साथ साथ वर्तमान सामाजिक, धार्मिक और नैतिक समस्याओं के लिये भी सुन्दर हल बन गया है ।

पाँचवें अध्यायमें जाति-मोहका विरोध करतेहुये कहते हैं:—

"जब था जाति-भेद जीवन में समता देने वाला ।
बेकारी की जटिल समस्याएं हर लेने वाला ॥
जब इसके द्वारा धंधे की चिन्ता उड़ जाती थी ।
तभी श्रुति स्मृति जाति-भेद को हितकर बतलाती थी ॥
इससे अच्छी तरह अर्थ का होता था बटवारा ।
देता था संतोष सभी को बनकर शांति-सहारा ॥
सुविधा की थी बात वर्ण का था न मनुज अभिमानी ।
विप्र शूद्र सब एक घाट पीते थे मिल कर पानी ॥

जातियां हमने बनाई कर्म करने के लिये ।
हैं नहीं ये दूसरों का मान हरने के लिये ॥

ईश की कृतियां नहीं ये प्रकृति की रचना नहीं।
कल्पना बाज़ार की हैं पेट भरने के लिये ॥
जिस तरह सुविधा हमें हो, उस तरह रचना करें।
जाति जीने के लिये है, है न मरने के लिये ॥
विप्रता की है जरूरत शूद्रता की भी यहां।
प्रेम से जग में मिलेंगे हम विचरने के लिये ॥
विप्रता का मद नहीं हो शूद्रता का दैन्य भी।
हो परस्पर प्रेम यह संसार तरने के लिये ॥

\+ + +

भेद रहे वैषम्य रहे वह, जो सहयोग बढ़ाये।
पर यह मानव-जाति न चिथड़े चिथड़े होने पाये ॥

ठीक इसी प्रकार समन्वय के कुठार से साम्प्रदायिक मोह पर आघात करते हुये बारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं :-

अर्जुन, सब की एक कहानी।
पंथ जुदा है घाट जुदे हैं, पर है सब में पानी ॥
अर्जुन सब की एक कहानी।
जब तक मर्म न समझा तब तक होती खींचातानी।
पर्दा हटा, हटा सब विभ्रम दूर हुई नादानी ॥
वर्ण-अवर्ण अहिंसा-हिंसा मूर्ति न मानी मानी।
क्या प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति क्या है सब धर्म निशानी ॥
यह विरोध कल्पना शब्द की होती है मनमानी।
लड़ते और झगड़ते मूरख करें समन्वय ज्ञानी ॥
अर्जुन सब की एक कहानी ॥

श्रीमद्भगवद्गीता के "द्रव्य यज्ञास्तपो यज्ञा योग यज्ञा स्तथापरे, स्वाध्याय ज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशित-व्रताः" [४-२८] की तरह प्रस्तुत गीता के बारहवें अध्याय में विविध यज्ञों का वर्णन करते हुए अंत में कहा गया है:—

'जगहित रूपी ब्रह्म में किया व्यक्ति-हित लीन ।
यज्ञ-शिरोमणि है यही ब्रह्म-यज्ञ स्वाधीन ॥

आत्मवाद अनात्मवाद, प्रवृत्ति, निवृत्ति, मूर्ति, अमूर्ति, द्वैत, अद्वैत आदि वादों का धार्मिक समन्वय करते हुए एक स्थान पर ईश्वर-अनीश्वर वाद का भी सुन्दर समन्वय किया गया है ।

कोई ईश्वर मानते, कोई माने कर्म ।
फल-पर यदि विश्वास हो तो दोनों ही धर्म ॥
× × × ×
पापों से बचकर न रहेंगे ।
ईश्वर ईश्वर सदा कहेंगे ।
लड़ लड़ कर सब कष्ट सहेंगे ।
ईश्वर-भक्ति न जान इसे तू है कोरा अभिमान ॥
जगत तो भूला है भगवान ।

ग्यारहवें अध्याय में पुरुषार्थों का मौलिक विवेचन करते हुए 'इहैव तैर्जितः सर्गः येषां साम्ये स्थितं मनः' का पुष्टीकरण किया गया है:—

दुःख और सुख मन की माया ।
मन ने ही संसार बसाया ।
मनको जीता दुनिया जीती हुआ दुखोदधि पार ।
यहीं है मोक्ष और संसार ॥

जब अर्जुन पूछता है कि:—

माधव मोक्ष यहां कहाँ वह अत्यंत परोक्ष ।
जब तक यह जीवन रहे तब तक कैसा मोक्ष ॥

तब कृष्ण कहते हैं:—

मरने पर पुरुषार्थ भला क्या ?
मुर्दे की शृंगार कला क्या ?
मोक्ष परम पुरुषार्थ यहीं का कर्मयोग-आधार।
यहीं है मोक्ष और संसार ॥

जब अर्जुन अपना दैन्य प्रकट करके कहता है कि—

छोटी सी यह बुद्धि है, है सब शास्त्र अथाह।
अगर थाह लेने चलूं हो जाऊँ गुमराह ॥

तब श्रीकृष्ण अभय-दान देते हुए कहते हैं—

बुद्धि अगर छोटी रहे तो भी हो न हताश।
छोटी सी ही आँख में भर जाता आकाश ॥

फिर कहते हैं—

पाक-शास्त्र जाने नहीं करें स्वाद-प्रत्यक्ष।
निपट अपाचक लोग भी स्वाद परीक्षण दक्ष ॥

विषय की गहनता को देखते हुए इतना सुबोध विवेचन करने में श्री सत्यभक्तजी को आश्चर्यजनक सफलता मिली है। जगह जगह उदाहरण और दृष्टान्त इतने 'फिट' दिये गये हैं कि विषय एकदम हृदयंगम हो जाता है जैसे:—

कठिन कर्तव्य है अर्जुन कठिन सत्पन्थ पाना है।
विरोधों से भरी दुनिया समन्वय कर दिखाना है।
अनल की ज्योति है बिजली चमकती जोकि बादलमें।
बनाया नीर के घरमें अनलने आशियाना है ॥

किसीके गौर मुखड़े पर सुहाते बाल हैं काले।
सुहातीं नील आँखियाँ हैं तथा तिल का निशाना है॥
प्रकृति के नील अंगन में सुहाता चन्द्रमा कैसा।
विविधता के समन्वय में खुदाई का ख़जाना है॥
चमन में भी सदा दिखता विरोधों का समन्वय ही।
कहीं है काटना डाली कहीं पौधे लगाना है॥
अनुग्रह और निग्रह कर मगर समभाव रख मनमें।
चमन का बागवाँ बन तु चमन तुझको बनाना है॥

जब अर्जुन को यह महान् शंका होती है कि:—

सब धर्मों में मुख्य अहिंसा धर्म बताया।
पर है हिंसा-काण्ड यहाँ पर सम्मुख आया॥
कैसे हिंसा करूं अहिंसा कैसे छोड़ूं ?
क्यों हिंसा से विश्व-प्रेम के बंधन तोड़ूं ?

तब श्रीकृष्ण हिंसा और अहिंसा के नाना भेद-प्रभेद बताते हुए कहते हैं:—

अन्याय हो फिर भी अहिंसा को लिये बैठे रहो,
तो पाप का तांडव मचेगा शांति क्यों होगी कहो?
एकान्त हिंसा या अहिंसा का न करना चाहिये;
सन्नीति रक्षण के लिये भू भार हरना चाहिये॥

फिर कहते हैं:—

यदि अल्प-हिंसा से अधिक हिंसा टले सुखशान्ति हो,
तो अल्प हिंसा है अहिंसा क्यों यहाँ पर भ्रांति हो ?
सुखशान्ति का जो मूल है वह ही अहिंसा धर्म है।

हो वह अहिंसा रूप हिंसा-रूप या सत्कर्म है ॥
निज देश-रक्षण के लिये यदि युद्ध भी करने पड़ें।
यदि आक्रमणकारी दलों के प्राण भी हरने पड़ें ॥
अधिकार रक्षण के लिये यदि शत्रुवध अनिवार्य है ।
तो है न हिंसा प्राणि-वध में प्राणिवध भी कार्य है ॥

इस प्रकार स्पष्ट शब्दों में हिंसा अहिंसा का मर्म समझाते हुए अन्त में कहते हैं:—

सचमुच अहिंसा ही कसौटी हैं सकल सत्कर्म की।
रहती अहिंसा है जहाँ सत्ता वहीं है धर्म की ॥
पर बाहिरी हिंसा अहिंसा से न निर्णय कर कभी।
होती अहिंसा बाह्य हिंसा रूप भी मत डर कभी ॥
कल्याण जिस में विश्व का हो और हो निःस्वार्थता।
फिर हो अहिंसा या कि हिंसा पाप का न वहाँ पता ॥
है मोहजा तेरी अहिंसा मूल में न विवेक है।
वह है नहीं सच्ची अहिंसा, मोह का अतिरेक है ॥

इसी प्रकार 'होती जहाँ अहिंसा, सच भी वहीं समाया' कहते हुए सत्यके भी नाना भेद-प्रभेद बतलाये गये हैं जिसका सार है कि जो विश्व—कल्याणकारी हैं वही सत्य है चाहे वह तथ्य (जैसा का तैसा) हो या न हो।

ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अचौर्य आदि को सत्य अहिंसा में ही अन्तर्भाव करते हुए सुन्दर सूक्तियाँ लिखी गई हैं जो हृदय पर सीधा प्रभाव डालतीं हैं ।

बहुत तपस्याएँ हुईं कस कर बँधा लँगोट।
सह न सका पर एक भी मकरध्वज की चोट ॥
देह दिगंबर हो गई मन पर मन-भर सूत।
बुनकर बन बैठा वहाँ मोह पाप का दूत ॥
तन का तो आसन जमा मन के कटे न पाँख।
बगुला तो ध्यानी बना पर मछली पर आँख ॥
जबतक मन वश में नहीं तबतक कैसा त्याग।
भीतर ही भीतर जले विकट अवाकी आग ॥
चोरी करता चोर पर चोरी सहे न चोर।
चोरों के घर चोर हों चोर मचावें शोर ॥
वहाँ विषमता है जहाँ प्रति-क्रिया है पार्थ।
योगी के समरूप है चारों ही पुरुषार्थ ॥

कहाँ तक उद्धरण दिये जाँयँ। नाना शंकाओं का सरल से सरल भाषा में शृंखला-बद्ध समाधान दिया गया है जो सभी श्रेणी के पाठकों को अपूर्व विचार-गति प्रदान करता है।

अन्तिम गीतमें निष्कर्ष-रूप में कैसा यथार्थ उपदेश दिया गया है:—

भाई पढ़ले यह संसार।
खुला हुआ है महाशास्त्र यह जिस में वेद अपार ॥
भाई, पढ़ ले यह संसार।
अनुभव और तर्क दो आँखें अंजन सारे वेद।
देख सके सो देखे भाई, काला और सफ़ेद ॥
अद्भुत पुण्य-पाप भण्डार।
भाई पढ़ले यह संसार ॥

उक्त कतिपय उद्धरणों से आपको मालूम हो गया होगा कि प्रस्तुत गीता एक मौलिक धर्म-शास्त्र बन गया है।

कृष्ण-गीता और भगवद्गीता

इन दोनों गीताओं में दो बातों की समानता है—

१—दोनों में कृष्णार्जुन के संवादरूपमें विवेचन है।

२—दोनों में कर्मयोग को मुख्यता देकर धार्मिक और सामाजिक सुधार तथा समन्वयकारी क्रांति का समर्थन है।

परन्तु दोनों में भेद भी हैं। प्रस्तुत ग्रंथ के साढ़े नवसौ पद्यों में साढ़े नव पद्य भी ऐसे नहीं हैं जिन में भगवद्गीता के किसी पद्य के अनुवाद की छाया हो। पूर्णानुवाद तो एक भी न मिलेगा। वर्णन-शैली और विषय का भी बहुत अन्तर है। इस प्रकार पर्याप्त अन्तर है पर निम्न लिखित अन्तर विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

१—भगवद्गीता में १८ अध्याय हैं, कृष्णगीता में १८ अध्याय हैं।

२—भगवद्गीता में गीत नहीं हैं। प्राचीन संस्कृत साहित्य में साधारण पद्य के अतिरिक्त गीत लिखने का रिवाज ही नहीं था परन्तु आज तो गीतों का विशेष स्थान है, गीता नाम की पुस्तक में गीत न हों यह जरा अटपटा सा मालूम होता था। इसलिये इस ग्रंथ में इकत्तीस गीत रक्खे गये हैं।

३—भगवद्गीता में दर्शन-शास्त्र का काफी विवेचन है और इस ढंग से है मानों उन दर्शनों का परिचय देने के लिये किया गया है। पर धर्म—शास्त्र से दर्शन—शास्त्र अलग है इसलिये प्रस्तुत गीता में दर्शनों का परिचय नहीं दिया गया है। धर्म और

दर्शन भिन्न क्यों हैं इसी बात को लेकर दर्शन–शास्त्र का उल्लेख हुआ है और दर्शन--शास्त्र के ईश, अनीश, आत्म, अनात्म वादों का धार्मिक उपयोग बताया गया है।

४ गीता युद्ध के समय जो बातचीत हुई थी उसकी रिपोर्ट है। वह बातचीत ग्रन्थ बनगई यह दूसरी बात है पर उसमें विषयवार अध्याय न होना चाहिये। युद्ध के उस अल्प समय में श्रीकृष्ण का काम जल्दी से जल्दी सत्यमार्ग दिखला कर अर्जुन को कर्तव्य-पथ पर खड़ा करना था। 'अब मैं इतना कह चुका इतना और सुनले' इस प्रकार सुना सुना कर अध्याय तैयार करने का वह अवसर नहीं था। इसलिये प्रस्तुत-गीता में हरएक अध्याय का अन्त वार्तालाप के उपसंहार रूप में किया गया है। सिर्फ़ पहिला अध्याय अर्जुन-विषाद पर पूरा हुआ है। बाकी हरएक अध्याय में श्रीकृष्ण चर्चा पूरी कर देते हैं पर अर्जुन कोई न कोई शंका उपस्थित कर बैठते हैं इसलिये श्रीकृष्ण को चर्चा करना पड़ती है और अध्याय बन जाता है। इससे कुछ स्वाभाविकता भी आ गई है।

५–प्रस्तुत गीता में ऐसे विषय भी रक्खे गये हैं जो भगवद्-गीता में नहीं हैं। जैसे नर-नारी-समभाव वहाँ संकेत रूप में है तो इस गीता में उसके लिये स्वतन्त्र अध्याय लिखा गया है जो आज कल के लिये ज़रूरी होकर के भी उस अवसर के बिलकुल अनुकूल बना दिया गया है। ज़रा नमूना देखिये:—

नारी को यदि पुरुष परिग्रह माना तुमने,
उसको दासी तुल्य भूलकर जाना तुमने।
तो समझो अंधेर मचाना ठाना तुमने,

सत् शिव सुन्दर का न रूप पहचाना तुमने ।
तुम लोगों में अगर समझदारी यह आती,
नरनारी में यदि समानता आने पाती ।
तो अनर्थ की परम्परा कैसे दिखलाती,
क्यों देवी द्रौपदी दाव पर रक्खी जाती ?

× × × ×

नरनारी वैषम्य वृक्ष है फलने आया ।
उसने कैसा आज महाभारत मचवाया ॥

इस तरह कृष्ण-गीता में बहुत से अनावश्यक विषय हटा कर आवश्यक जोड़ दिये गये हैं । अधिकांश विषयों का वर्णन इस समय की उपयोगिता के अनुसार किया गया है साथ ही उस अवसर के लिये भी वे अनुपयुक्त नहीं होने पाये हैं । भगवान सत्य के विराट् दर्शन हो जाने के बाद किसी को कोई शंका न रहना चाहिये इसीलिये इस गीता में विराट् दर्शन अंत में कराया गया है ।

यह कहा जा सकता है कि एक ऐतिहासिक वार्तालाप को किसी को मनमाने ढंगसे बदलने का क्या अधिकार है ? पर इसका उत्तर यही है कि श्रीकृष्ण का वह सन्देश सिर्फ़ इतिहास नहीं है न अपने ऐतिहासिक रूप में वह सुरक्षित है, वह धर्मशास्त्र है, कर्तव्य पथका ऐसा निर्देश है जिस में काफ़ी स्थायी तत्त्व है । उस सन्देश के प्राण स्वरूप कर्मयोग को देशकाल के अनुसार भाषा, भाव, युक्ति शैली आदि से सजाना अनुचित नहीं है । महाभारतकार ने अपने समय के लिये यही किया और यहाँ भी आज के युग के अनुसार यही किया गया है जो श्रेयस्कर है ।

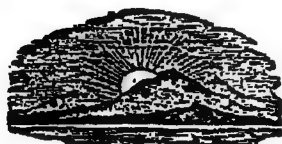
सत्य, प्रेम और सेवा के पक्षपाती सत्यसमाजियों के लिये तो यह धर्म-ग्रंथ के समान है ही पर उदार विचार के हरएक हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, ईसाई, पारसी, सिक्ख आदि के लिये भी यह कर्तव्य-शास्त्र का काम दे सकती है।

कृष्णगीता करीब सवा दो वर्ष तक सत्यसन्देश में (सन् १९३७-३८-३९) प्रकाशित होती रही। उसीके अनुसार हर मास थोड़ी थोड़ी बनती रही। अब उसे पुस्तकाकार प्रकाशित करते हुए हर्ष होता है।

बहुत सावधान रहने पर भी 'प्रेस-पिशाचों' के शिकार से नहीं बचा जा सका इसके लिये शुद्धि-पत्र साथ में दे दिया गया है।

आशा है हमारे गुण-ग्राही पाठक इस प्रयत्न की क़द्र करेंगे।

वसंतोत्सव १९९५ | सूरजचन्द सत्यप्रेमी [डाँगी]
सत्याश्रम वर्धा, [सी. पी.] | बड़ी सादड़ी (मेवाड़)



* शुद्धयशुद्धि *

पृ.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२२	पाण्डवा	पाण्डवों
१५	१३	सुहाता नील	सुहाती नील
१८	१०	ताड़	तोड़
२०	९	प्रम	प्रभु
२१	१७	नतन	नूतन
२२	१०	को जलने न दे	जलजाने न दे
,,	,,	को फलने न दे	फलजाने न दे
२८	६	ह	है
३२	१०	शद्र	शूद्र
४३	१८	का	की
४५	१०	बनूंना	बनूंगा
४७	६	हिंसा बताया	होती अहिंसा
५२	२१	मनज	मनुज
,,	२२	मर्ति	मूर्ति
५४	९	हा	हो
,,	१५	हाता	होता
,,	१४	अमा	आमा
५६	१	रह	रहे
५७	१९	घत	घूत
,,	२०	पड़ा	पड़ो
५८	९	संयमता	संयतता
६५	१०	अचार्य	आचार्य
८८	१९	प्रम	प्रेम
९८	८	वण	वर्ण
१००	२	सब अनागर	सब ही अनगार
,,	५	हों	हों
१०२	२०	गही	गृही
११६	२१	सखको	सुखको
१२४	,,	घटपट	घटघट
१२५	५—११	माई	माई
१२८	१४	असम्मव	असम्भव
१३०	१६	ससार	संसार

समर्पण

योगेश्वर श्रीकृष्ण के चरणोंमें—

योगेश्वर !

साधारण दुनियाने तुम्हें बहुत कम समझा। इसमें तुम्हारा अपराध तो कैसे कहूँ ? पर दुनिया का भी बहुत कम अपराध है। अपराध है तुम्हारी विचित्रता का। तुम योगी हो या भोगी ? राजा हो या रंक ? ब्राम्हण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र ? कुछ समझ में नहीं आता, आखिर तुम, पूर्णावतार हो। सब रस और सब कर्म तुम्हारे जीवन में हैं जो तुम्हारे अनुचरों के मनमें प्रतिविम्बित होते हैं। जब जब निराशाओं ने मुझे घेरा है, कार्य के बोझने दबाया है तब तब तुम्हारी मूर्त्ति उसी तरह मेरे सामने खड़ी हुई है जैसे अर्जुन के सामने हो गई थी और उससे मैंने बहुत कुछ पाया है। अर्जुन को दिव्योपदेश देकर तुमने दुनिया को जो अमर साहित्य दिया था वही अमर साहित्य न जाने कैसे तुमने मुझे दिया और मैंने वह पद्यों में गूँथ डाला। ज़रा देखो तो कैसा गुँथा है ?

तुम्हारा अनुचर बन्धु

—दरबारीलाल सत्यभक्त

योगेश्वर श्रीकृष्ण



सत्याश्रम वर्धा के धर्मालय में विराजमान मूर्ति ।

कृष्ण-गीता

के लेखक—



दरबारीलाल सत्यभक्त

संस्थापक सत्य-समाज

कृष्ण-गीता

पहिला अध्याय

गीत १

सुनादे कर्मयोग-सन्देश ।
भेज भेज श्रीकृष्ण सरीखा दूत, दूरकर क्लेश ॥
सुनादे कर्मयोग-सन्देश ॥ १ ॥

दे विराट दर्शन इस जग को झाँकी सी दिखजाय ।
अन्तस्तल की पट्टीपर तव कर्मयोग लिखजाय ।
निशा में चमकादे राकेश ।
सुनादे कर्मयोग-सन्देश ॥ २ ॥

अकर्मण्यता हटे, घटे मानवता का अज्ञान ।
घर घर में हो घट घट में हो कर्मयोग का गान ।
दिखाई दे नटनागर वेश ।
सुना दें कर्मयोग सन्देश ॥ ३ ॥

हरिगीतिका

वनवास था पूरा हुआ अब सन्धि का सन्देश था ।
धृतराष्ट्र के दर्बार में वह सुलहनामा पेश था ॥
श्रीकृष्ण से थे दूत जिनने यत्न कुछ छोड़ा न था ।
पर हाय भारतवर्ष का दुर्भाग्य कुछ थोड़ा न था ॥ ४ ॥

दुर्धर्ष दुर्योधन न माना हठ पकड़कर रह गया ।
सौजन्य सारा छोड़कर उद्गार अपने कह गया ॥
है दूर आधा राज्य, ग्रामों की कथा भी दूर है ।
मुझको सुई की नोक भी देना नहीं मंजूर है ॥ ५ ॥

फिर भी नरोत्तम धीरता से मुसकराते ही रहे ।
योगेश अपनी युक्तियों से कुछ सिखाते ही रहे ॥
होगा भविष्य महाभयंकर यह दिखाते ही रहे ।
दुर्भाग्य पर सौभाग्य के अक्षर लिखाते ही रहे ॥ ६ ॥

अपमान सहकर शान्ति का संगीत गाते ही रहे ।
था दुष्ट दुर्योधन मगर कारुण्य लाते ही रहे ॥
बाहर न आँसू थे मगर भीतर बहाते ही रहे ।
माता अहिंसा के लिये आँसू गिराते ही रहे ॥ ७ ॥

आखिर न समझौता हुआ श्रीकृष्ण को आना पड़ा ।
अपने बचाने के लिये कौशल्य दिखलाना पड़ा ॥
आतिथ्य छोड़ा कौरवों का वे विदुर के घर गये ।
भाजी मिली रूखी मगर कृतकृत्य उसको करगये ॥ ८ ॥

दिन रात तैयारी तभी दोनों जगह होने लगी ।
देवी दया तब आँसुओं से नयन मुख धोने लगी ॥

रोने लगी तब शान्ति देवी बन्धुता रोने लगी।
सोने लगी सद्वृत्ति ब्रह्मा को व्यथा होने लगी ॥ ९ ॥

कुरुक्षेत्र में आकर डटे नरमेध करने के लिये।
दीपक शिखा में शलभ बन बेमौत मरने के लिये ॥
यमराज के मुख में नरों का रक्त भरने के लिये।
दौर्जन्यसे सौजन्यके सब प्राण हरने केलिये ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण के आगे विकटतर यह समस्या थी खड़ी।
'नर-नाश या नय-नाश में से क्या चुनूँ मैं इस घड़ी ॥
कर्तव्य मेरा है यहाँ क्या, धर्म की रक्षा कहाँ.'
सोचा 'वहीं है धर्मरक्षा न्याय की रक्षा जहाँ ॥ ११ ॥

अन्यायियों के नाश में, न्यायी-जनों के त्राण में।
रहती अहिंसा भगवती यों विश्वके कल्याण में ॥
फिर भी लडूँगा मैं नहीं, लोहा न लूँगा हाथ में।
निःशस्त्र होकर मैं रहूँगा पार्थ के बस साथ में ॥ १२ ॥

योगेश ने यों पाण्डवों की प्रार्थना पर मन दिया।
नटनागरी का कर प्रदर्शन सूत का बाना लिया ॥
वे कर्म-योगेश्वर रहे कर्तव्य में फिर मान क्या?
योगी जगत्सेवक हुए फिर क्षुद्रता का ध्यान क्या ॥ १३ ॥

मानव-जगत का सारथी--रथ सारथी बन कर चला।
निःशस्त्र था पर पापियों के सिर पड़ी मानों बला ॥
अन्यायियों का सूर्य तपकर, अस्त होने को ढला।
रोते हुए से पाण्डवों का भाग्य से संकट टला ॥ १४ ॥

आखिर उभय दल आ डटे, संहारमय तन मन किये,
उत्साह से पूरित जयाशा की उमंगों को लिये ।
फुँकने लगे तब शंख, गोमुख नौबतें बजने लगीं;
मानों हुई अतिभीत वे, भगवान को भजने लगीं ॥१५॥

जब शंक फूँका भीष्म ने, वनराज सा गर्जन किया;
दी यों सलामी युद्ध को, पर-पक्ष का तर्जन किया;
तब पांचजन्य बजा इधर भी, कृष्ण ने उत्तर दिया ।
उत्साह से पूरित किया मन पांडवों का हर लिया ॥१६।

यों शंख बजकर जब धनुष पर डोरियाँ चढ़ने लगीं;
जब तीक्ष्ण तलवारें बिजलियों सी वहां बढ़ने लगीं ।
बोला तभी अर्जुन, "सुहृद्वर; रथ बढ़ा तो लीजिए;
दोनों दलों के बीच में, मुझको खड़ा कर दीजिए ॥१७।

अब कौन कौन यहां पधारे युद्ध के सरदार हैं ।
अन्याय की भी हो विजय, इसके लिये तैयार हैं ॥
श्रीकृष्ण ने स्यंदन बढ़ाकर, मध्य में तब ला दिया;
चारों तरफ़ कर दृष्टि अर्जुन ने निरीक्षण सा किया ॥१८

देखा पितामय हैं यहां, गुरुवर्य्य द्रोणाचार्य्य हैं;
भाई यहां हैं सैकड़ों, काका तथा आचार्य्य हैं ।
आये श्वसुर आये भतीजे, पौत्र आये हैं यहां,
हैं मित्र भी आये यहाँ, अंधेर इतना है कहाँ ॥१९॥

जिनने खिलाया है मुझे, दिन-रात आलिंगन किया;
उत्पात सब मेरा सहा, मलमूत्र तक हाथों लिया ।

जिनकी सुरक्षित गोद में, पलकर खड़ा मैं हो सका,
जिनकी कृपा से नर बना, पशुरूप अपना धो सका ॥२०॥

उन पूज्य पुरुषों से करूं, सम्बन्ध यदि टूटा हुआ।
फेंकूँ उन्हीं पर बाण मैं, गांडीव से छूटा हुआ ॥
तो नीति क्या रह जायगी, सौजन्य क्या रह जायगा।
कैसे विधाता का हृदय रोये बिना रह पायगा ॥२१॥

संसार में संतान का पालन करेंगे लोग क्यों?
संतान पालन का करेंगे, लोग फिर दुखभोग क्यों।
ब्रह्मांड में होगा प्रलय, मानव न तब बच पायगा,
बस मौत नाचेगी यहाँ, मरघट यहाँ रह जायगा ॥२२॥

धनु पकड़ने की भी कला, जिनने सिखाई थी मुझे।
सब शस्त्र-विद्या की यहां, झाँकी दिखाई थी मुझे ॥
उन पूज्य द्रोणाचार्य का, कैसे करूंगा घात मैं।
भगवान के दरबार में, कैसे करूंगा बात मैं ॥२३॥

माता पिता से भी अधिक, गुरुदेव का उपकार है,
कल्याण-कारक हैं वही, उनका अनोखा प्यार है।
उपकार सारे भूलकर उनसे लडूँगा आज मैं।
हा आज जोडूँगा यहाँ सारे नरक के साज मैं ॥२४॥

जिनको खिलाया गोद में था, प्रेम से चुंबन किया,
सिर और कंधों पर किया, हाथों दिया हाथों लिया।
उनपर चलेगा अब धनुष, धिक्कार है धिक्कार है;
वात्सल्य का है खून यह, यह घोर अत्याचार है ॥२५॥

जिनका सखा बन कर रहा, जिनको सदा भाई कहा,
दिन-रात खेला साथ में, जिनसे सदा मिलकर रहा ॥
उन बंधु मित्रों से लडूँ उन पर चलाऊँ बाण मैं ।
ऐसा कसाई बन करूँगा क्या जगत्कल्याण मैं ॥२६॥

—: दोहा :—

किंकर्तव्य-विमूढ़ हो, भर नयनों में नीर ।
केशव से बोले तभी, अर्जुन बन गंभीर ॥२७॥

इन स्वजनों को देखकर, लड़ने को तैयार ।
भरता है मेरा हृदय, होता खेद अपार ॥२८॥

छूट रहा गाण्डीव है, कँपते हैं सब अंग;
अंग अंग काँटे खड़े, बदल रहा सब रंग ॥२९॥

क्या होगा तब राज्य का, बने बंधु जब धूल;
कान कटे फिर क्या मिला ? कानों को कनफूल ॥३०॥

वैभव है जिनके लिये, यदि हो उनका नाश ।
भर जावेगा शोक से, तो जल थल आकाश ॥३१॥

भले करें ये दुष्टता, पर हम हों क्यों दुष्ट ।
जीवन देकर भी इन्हें, क्यों न करें हम तुष्ट ॥६२॥

होगा मेरी मौत से, बस मेरा ही अन्त ।
पर दुनिया बच जायगी, होगी शान्ति अनन्त ॥३३॥

देखेगी दुर्दृश्य वह, कैसे मेरी दृष्टि ।
घर घर में होगी यहां, विधवाओं की सृष्टि ॥३४॥

लखों आँखों से यहाँ, निकलेगी जलधार ।
होगा जग में जल-प्रलय, डूबेगा संसार ॥२६॥
भुवन भस्म होजायगा, होगा लंका-कांड ।
आहों से भर जायगा, यह सारा ब्रह्मांड ॥२६॥
भवन भ्रष्ट हो जाँयँगे, नगर नरक के धाम ।
घूक बसेंगे या यहाँ, निशिदिन आठों याम ॥२०॥
क्षमा करो माधव मुझे, करदो युद्ध-विराम ।
प्राण जाँयँ होऊँ न पर मैं जगमें बदनाम ॥२८॥

द्रुत-विलम्बित

हृदय के सब भाव निचोड़ के ।
रख दिये ममतावश जोड़के ।
अति विषाद-भरा मुँह मोड़के ।
धनुप छोड़ दिया दिल तोड़के ॥२९॥



दूसरा अध्याय



यों जब कल्पित पाप से हुई पार्थ को भीति ।
लगे सिखाने कृष्ण तब कर्मयोग की नीति ॥१॥

गीत २

अर्जुन झूठी नातेदारी ।
दुनिया है बाज़ार, स्वार्थ के हैं सब ही व्यापारी ।
अर्जुन झूठी नातेदारी ॥२॥

किसको कहता है भाई तू, किसको कहता तात ।
किसकी सुनता कौन ? यहाँ है अपनी अपनी बात ॥
है झूठी नाते की यारी ।
अर्जुन झूठी नातेदारी ॥३॥

वह क्या नातेदार, स्वार्थ के लिये हमें दे छोड़ ।
अन्यायी बन जाय प्रेम का भी बन्धन दे तोड़ ॥
है जो कोरा स्वार्थ-विहारी ।
अर्जुन झूठी नातेदारी ॥४॥

जो हैं त्यागी गुण-अनुरागी है वह नातेदार ।
विश्व-मित्र जो गुण-पवित्र जो सेवा का अवतार ॥
दुखिया दुनिया जिसको प्यारी ।
अर्जुन झूठी नातेदारी ॥५॥

बोल बोल हैं कौन यहां पर तेरे नातेदार ।
कौन न्याय के लिये मरा है, छोड़ा है संसार ॥
तेरा प्रेमी सत्य–पुजारी ।
अर्जुन झूठी नातेदारी ॥६॥

मोह छोड़ दे, बन्ध तोड़ दे, रख मनमें समभाव ।
कर कर्तव्य अभेद-बुद्धि से, रहे रंक या राव ॥
सब का जीवन हो सुख-कारी ।
अर्जुन झूठी नाते–दारी ॥ ७ ॥

गीत २

द्रौपदी के क्यों भूला केश ।
ये तेरे ही बन्धु वहाँ थे बने हुए न्यायेश ॥
द्रौपदी के क्यों भूला केश ॥८॥

पुण्यवती थी वह बेचारी, तुम थे मृतक–समान ।
पर ये कोई काम न आये ढोंगी नीति-निधान ।
बने ये अर्थदास असुरेश ।
द्रौपदी के क्यों भूला केश ॥९॥

दुःशासन ने केश खींचकर, दिया उसे झकझोर ।
चीख उठी अबला बेचारी, देखा चारों ओर ॥
पुकारा ' लज्जा रखो रमेश ' ।
द्रौपदी के क्यों भूला केश ॥१०॥

फिर भी तेरा बन्धु न माना, मानवता दी छोड़ ।
भरी सभामें खींचा अंचल उसके हाथ मरोड़ ॥

न रहने पाई लज्जा लेश ।
द्रौपदी के क्यों भूला केश ॥११॥

अंतरीक्ष फट पड़ा, मचा दुनिया में भारी शोर ।
पर तेरे नातेदारों के फटे न हृदय कठोर ॥
बने पत्थर की मूर्त्ति नगेश ।
द्रौपदी के क्यों भूला केश ॥१२॥

भीष्म द्रोण कृप सभी वहाँ थे, तेरे पिता समान ।
पर अपने अपने पेटों का रक्खा सबने ध्यान ।
कहाते थे फिर भी वीरेश ।
द्रौपदी के क्यों भूला केश ॥१३॥

कौन पुरुष होकर सह सकता, नारी का अपमान ।
अब भी खुली हुई है वेणी, रख तू उस का ध्यान ॥
बने भारत आर्यों का देश ।
द्रौपदी के क्यों भूला केश ॥१४॥

दोहा

'मेरा तेरा' में पड़ा, डूब गया संसार ।
मोही, ममता छोड़ दे, कर तू शुद्ध विचार ॥१५॥

'मेरा मेरा' कर रहा, पर तेरा है कौन ।
जहां स्वार्थ बाधा पड़ी हुए सकल जन मौन ॥१६॥

अपना है तो धर्म है, पर है सदा अधर्म ।
'मेरा तेरा' छोड़ कर, कर न्यायोचित कर्म ॥१७॥

सज्जनता की जीत हो दुर्जनता की हार।
पाप निकंदन कर सदा, कर हल्का भू-भार ॥१८॥
मोह ममत्व न पास रख कर तू उचित विचार।
वीतराग बन खोल दे शुद्ध न्याय का द्वार ॥१९॥

गीत ४

जग में रह न सके अन्याय।
नातेका सम्बन्ध तोड़ कर।
न्याय धर्म से प्रेम जोड़ कर।
प्राणों का भी मोह छोड़ कर।
बन तू न्याय-सहाय॥ जगमें........॥२०॥
नातेकी है झूठी माया।
अपना हो या हो कि पराया।
जिसपर गिरी पापकी छाया।
कर उसका सदुपाय॥ जगमें........॥२१॥
जीवन रोटी पर न बिकावे।
पाप न जग पर राज्य जमावे।
अबलाओं की लाज न जावे।
धर्मराज आजाय॥ जगमें........॥२२॥

गीत ५

भाई कर मत यह नादानी,
भूल रहा क्यों मोहित होकर अपनी कठिन कहानी। भाई.॥
याद नहीं आता है तुझको।
यह सब कहना पड़ता मुझ को॥

दुर्योधन बोला था "दूंगा नहीं सुई की नोक।
दूंगा सारे पांडव दल को मृत्यु-कुंड में झोंक॥
निर्बल का है कौन सहाय।
जिसकी लाठी उसका न्याय॥
अब कैसे तू भूल गया है उसकी यह शैतानी। भाई. ॥२३॥
भाई कर मत यह नादानी,
जीवन मोती के समान है, मत उतार तू पानी। भाई. ।
क्यों अपना गौरव खोता है।
ममता का शिकार होता है॥
तुझ को नहीं विचार रहा है कहाँ न्याय अन्याय।
तू मानव है भूल गया पर मानवता भी हाय॥
देखा चमड़े का सम्बन्ध।
नाते की माया में अन्ध॥
कुल कुटुम्ब के झगड़े में पड़, भूला न्याय निशानी। भाई. ॥२४॥
भाई कर मत यह नादानी,
न्याय तुला लेकर बैठा फिर कैसी आनाकानी। भाई. ।
कोई नातेदार कहाता।
न्यायी का क्या आता जाता॥
शुद्ध हृदय से करता रहता है वह अपना काम।
दुनिया की पर्वाह न करता नाम हो कि बदनाम॥
कोई भी हो नातेदार।
कर तू न्याय न बन बेकार।
पक्षपात से न्याय-तुला की कर मत खींचातानी। भाई. ॥ २५॥

हरि-गीतिका

अन्याय का कर सामना, सब मोह ममता छोड़ दे।
अपना पराया कौन है? संबंध सारा तोड़ दे॥
है द्रौपदी तेरी नहीं, तेरा न वह परिवार है।
पर एक महिला पर हुआ यह घोर अत्याचार है॥२६॥
अन्याय को विजयी कभी बनने न देना चाहिये।
सबको सदा भूभार हरकर पुण्य लेना चाहिये॥
हो न्याय का रक्षण सदा अन्याय विजयी हो नहीं।
शैतान या शैतानियत जगमें न रह पाये कहीं॥२७॥

हो शत्रु भी न्यायी अगर तो पात्र है वह प्यार का।
हो पुत्र भी पापी अगर तो पात्र है संहार का॥
है न्याय की रक्षा जहां अन्याय का अपमान है।
रहता जहां ईमान है रहता वहीं भगवान है॥२८॥

पक्षान्धता सब छोड़ दे, कर न्याय की सेवा सदा।
कर्तव्य करने के लिये तैयार रह तू सर्वदा॥
कहता नहीं हूँ कार्य्य कर तू स्वार्थ-रक्षण के लिये।
कहता यही कर्तव्य कर, अन्याय-तक्षण के लिये॥२९॥

यह मोह माया छोड़ दे, अपना पराया कौन है॥
निज-कुल कहाया कौन है, पर-कुल कहाया कौन है॥
पर खेल सच्चा खेल जिस में न्याय का ही दाव हो।
तू क्षत्रियोचित कर्म कर जिस में सदा समभाव हो (६९)



तीसरा अध्याय



अर्जुन—　　　दोहा

माधव मेरा प्रश्न यह, बना गूढ़ से गूढ़ ।
पथ न सूझता, मैं हुआ—किंकर्तव्य-विमूढ़ ॥१॥
बात तुम्हारी ठीक है, पर मेरी भी ठीक ।
कैसे मैं निश्चय करूं, क्या है ठीक अलीक ॥२॥
समभावी बन युद्ध हो, मिले योग से भोग ।
करते हो जल अनल में, यह कैसा सहयोग ॥३॥
ये दोनों कैसे बनें, युद्ध और समभाव ।
चतुर खिलाड़ी बोलदो कैसा है यह दाव ॥४॥
घोर महाभारत बना, यह मन का संग्राम ।
करूं समन्वय किस तरह, कैसे हो विश्राम ॥५॥

श्रीकृष्ण—　　　गीत ६

भाई, समन्वयी संसार ।
विविध रसों का मेल नहीं हो, तो है जीवन भार ॥
भाई, समन्वयी संसार ॥६॥
मीठा ही मीठा भोजन हो, फिर क्या उसमें स्वाद ।
अम्ल तिक्त लवणादि रसों के बिना स्वाद बर्बाद ॥
फिर तो भोजन है बेगार ।
भाई, समन्वयी संसार ॥ ७ ॥
सुन्दरता के लिये एक ही रंग नहीं तू घोल ।
रंगों का है जहाँ समन्वय चित्र वहीं अनमोल ॥

दिखता है सौन्दर्य अपार ।
भाई, समन्वयी संसार ॥ ८ ॥
युद्ध और समभाव अनलजल, जीवन का है मेल ।
है विरोध का पूर्ण समन्वय, जगका सारा खेल ॥
तब ही बहती जीवन-धार ।
भाई, समन्वयी संसार ॥ ९ ॥

गीत ७

कठिन कर्तव्य हैं अर्जुन, कठिन सत्पंथ पाना है ।
विरोधों से भरी दुनिया समन्वय कर दिखाना है ॥ १० ॥
अनल की ज्योति है बिजली, चमकती जो कि बादल में ।
बनाया नीर के घर को, अनल ने आशियाना है ॥ ११ ॥
किसी के गौर मुखड़े पर, सुहाते बाल हैं काले ।
सुहाता नील अँखियाँ हैं, सुहाता तिल निशाना है ॥ १२ ॥
प्रकृति के नील अङ्गण में, सुहाता चन्द्रमा कैसा ।
विविधता के समन्वय में, खुदाई का खज़ाना है ॥ १३ ॥
चमन में भी सदा दिखता, विरोधों का समन्वय ही ।
कहीं है काटना डाली, कहीं पौधे लगाना है ॥ १४ ॥
अनुग्रह और निग्रह कर, मगर समभाव रख मनमें ।
चमन का बागवां बन तू, चमन तुझको बनाना है ॥ १५ ॥

अर्जुन—

गीत ८

विक्षोभ रहे मन में न ज़रा, सब काम करूँ बोलो कैसे ?
मनमें थोड़ा भी वैर न हो फिर, प्राण हरूं बोलो कैसे ॥१६॥

रसरंग हृदय में हों सब ही, फिर भी मन चंचल हो न सके।
पानी में भींजें पैर नहीं, फिर सिन्धु तरूं बोलो कैसे ॥ १७ ॥
'जब चाह नहीं तब राह कहाँ' बे-मतलब कैसे राह चलूं।
मदिरा का कुछ भी मोह न हो फिर चषक भरूं बोलो कैसे ॥१८॥
मनमोहन तुम मुसकाते हो, पर मेरी कठिन कहानी है।
काँटों की सेज बिछी है जब, तब पैर धरूं बोलो कैसे ॥ १९ ॥

श्रीकृष्ण— (गीत ९)

भोले भाई मत भूल यहां, दुनिया यह नाटक-शाला है।
सब भूल रहे असली स्वरूप, बन रहा जगत मतवाला है ॥२०॥
बनता है कोई बन्धु यहां, बनता है शत्रु यहां कोई।
कोई घर का है अंधकार कोई जग का उजियाला है ॥ २१ ॥
ले वेष भिखारी का कोई, कण कण को भी मुँहताज बना।
ऐयाश बना दिखता कोई, पीता मदिरा का प्याला है ॥२२॥
भिल्लिनी रूप रखकर कोई, गुंजाओं से शृङ्गार करे।
ले लिया किसी ने राज-वेष, पहिनी मणियों की माला है ॥२३॥
कोई नृकीट कहलाता है, जिसको न पूछता है कोई।
कोई महिमा का सागर है, घर घर में जिसका चाला है ॥२४॥
अपने अपने में मस्त बने, सब खेल खेलते हैं अपना।
तू भी अपना यह खेल खेल, जो सुंदर खेल निकाला है ॥२५॥
जैसा है तुझ को वेष मिला वैसा तू भी रँगढंग दिखा।
सब बन्धु बन्धु हैं यहां किन्तु, नाटक का रंग निराला है ॥२६॥
रोले हँसले मिलले लड़ले, जैसा अवसर हो सब कर ले।
पर समभावी रह भूल नहीं, तू नाटक करनेवाला है ॥ २७ ॥

गीत १०

खेलना होगा तुझको खेल।
दुनिया यह नाटकशाला है;
तू नाटक करनेवाला है।
तू न भाग सकता, जीवन है, पात्रों का ही मेल।
खेलना होगा तुझको खेल ॥२८॥
बन जाना रागी वैरागी;
कहलाना भोगी या त्यागी।
सभी खेल हैं चतुर खेलते मूर्ख बने उद्वेल।
खेलना होगा तुझको खेल ॥२९॥
क्या है जीना क्या है मरना;
यह है खेल सभी को करना।
सब हँस हँस कर चोट झेलते तू भी हँसकर झेल।
खेलना होगा तुझको खेल ॥३०॥

गीत ११

मत भूल मर्म की बात, खेल संसार है।
तू समझ खेल का मर्म जो सुखागार है ॥३१॥
सभी खिलाड़ी जुड़े हुए हैं, है न वैर का नाम।
पर अपनी अपनी पाली का सब ही करते काम ॥
मची भरमार है।
मत भूल मर्म की बात, खेल संसार है ॥३२॥
भाई भाई बटे हुए हैं, है न वैर का लेश।
प्रतिद्वन्दिता दिखती है, पर है न किसीको क्लेश ॥
हृदय में प्यार है।
मत भूल मर्म की बात, खेल संसार है ॥३३॥

लेन देन का काम नहीं है, है न नफ़ा नुक़सान।
पर सब का हिसाब है, सबको, उसी बातका ध्यान ॥
जीत है हार है।
मत भूल मर्म की बात, खेल संसार है ॥३४॥

बालक सा निर्दोष हृदय कर. खेल जगत के खेल।
हो न वासना वैर-भाव की, रहे प्रेम का मेल ॥
प्रेम शृङ्गार है।
मत भूल मर्म की बात खेल संसार है ॥३५॥

फल में है अधिकार न तेरा, फल की आशा छोड़।
करता रह कर्तव्य, स्वार्थ के सब दुर्बन्धन तोड़ ॥
यहीं अधिकार है।
मत भूल मर्म की बात, खेल संसार है ॥३६॥

अर्जुन— गीत १२

दुनिया का सारा काम रहे, फिर भी भीतर का ध्यान रहे।
माधव बोलो, यह कैसे हो दोनों का बोझ समान रहे ॥३७॥
मन तो है मुझको एक मिला, दो जगह इसे बाटूँ कैसे?
सम्भव है कैसे इस मन में, रोकरके भी मुसकान रहे ॥३८॥

श्रीकृष्ण— दोहा

मन बटता है किस तरह, सीख यही विज्ञान।
इसीलिये करले तनिक, पनिहारी का ध्यान ॥३९॥

गीत १३

धर गागरिया का भार चलीं पनिहारियाँ ।
कर बतियन की भरमार चलीं पनिहारियाँ ॥४०॥
एक सखी चल ठुमुक ठुमुक पर रख गगरी का ध्यान ।
बोली रस रस की सब बतियाँ, अधर धरी मुसकान ॥
भरी रस झारियाँ ।
धर गागरिया का भार चलीं पनिहारियाँ ॥४१॥
फुलझड़ियों सी झड़ी मगर था मन गगरी की ओर ।
कुंजगलिन में बरसाया रस, नाचा मन का मोर ॥
सिंचगईं क्यारियाँ ।
धर गागरिया का भार चलीं पनिहारियाँ ॥४२॥
मन था एक ध्यान घट का था बातें किंतु हज़ार;
एक बात पर बात दूसरी होती थी तैयार ॥
अजब तैयारियाँ ।
धर गागरिया का भार चलीं पनिहारियाँ ॥४३॥
मन है एक, बाटना कैसे, करले इस का ज्ञान ।
कर्मयोग की नीति सीख, कर पनिहारी का ध्यान ।
नीति-गुरु नारियाँ ।
धर गागरिया का भार चलीं पनिहारियाँ ॥४४॥

हरिगीतिका

स्थिति-प्रज्ञ बनकर कर्मकर समभाव मन में रख सदा ।
बन कर्मयोगी नीति का रख ध्यान मन में सर्वदा ॥
मत राग कर मत द्वेष कर अभिमान भी आने न दे ।
तू विश्व-हित में लीन रह कर्मण्यता जाने न दे ॥११४॥

चौथा अध्याय



अर्जुन—

स्थिति-प्रज्ञ होऊं किस तरह योगेश समझाओ मुझे ।
आगे बढ़ूं बोलो किधर सत्पंथ दिखलाओ मुझे ॥
स्थिति-प्रज्ञ योगी के कहो क्या चिह्न क्या जीवन कथा ?
कर दो कृपाकर दूर मेरे मूढ़ मानसकी व्यथा ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण— स्थितिप्रज्ञ का रूप

जो माँ अहिंसा का दुलारा वन्धु सव संसार का ।
जो सत्य प्रभका पुत्र है योगी सदा है प्यार का ॥
जिसकी न कोई जाति है जिसकी न कोई पाँति है ।
जिसका न कोई ज्ञाति है जो विश्वका हर भाँति है ॥ २ ॥

संसार भरके सव मनुज हैं जाति-भाई से जिसे ।
हैं जाति नामक भेद खंदक और खाई से जिसे ॥
जिसको न कुलका पक्ष है सव को वरावर मानता ।
कोई रहे, यदि हो सदाचारी कुटुम्वी जानता ॥ ३ ॥

संसार जिसको उच्च अथवा नीच शब्दों से कहे ।
उसके लिये जिसके हृदय में साम्य ही जागृत रहे ॥
मद है न जिसको जाति का या वर्ण का परिवार का ।
गौरव सदा जिसके हृदय में है जगत के प्यार का ॥ ४ ॥

पुरुषत्व का अभिमान भी जिसको कभी आता नहीं ।
नर नारियों में जो विषमता-भाव है लाता नहीं ॥
हैं देवियाँ सी नारियाँ जिसके लिये संसार में ।
स्वाधीन करता है उन्हें रखता न कारागार में ॥ ५ ॥

जो सर्वधर्मसमानता के तत्व में अनुरक्त है ।
मिलता जहाँ पर सत्य है बनता वहीं पर भक्त है ॥
करता सदा गुण का ग्रहण दुर्गुण हटाता है सदा ।
सारे महात्मा-वृन्द में रखता विनय है सर्वदा ॥ ६ ॥

मत-मोह है जिस में नहीं बस सत्य में अनुराग है ।
पक्षान्धता की वासना का सर्वदा ही त्याग है ॥
जो है पुजारी सत्यका निष्पक्षता से युक्त है ।
पूरा विवेकी और ज्ञानी अन्धश्रद्धा-मुक्त है ॥ ७ ॥

हो रूढ़ि नूतन या पुरानी पर गुलामी है नहीं ।
प्राचीनता का मोह सदसद्बुद्धि-स्वामी है नहीं ॥
कर्तव्य-निर्णयकी कसौटी विश्वका कल्याण है ।
होती सुधारकता जहाँ होता वहीं पर त्राण है ॥ ८ ॥

जो इन्द्रियों की वश्यता या दासता से दूर है ।
समभाव और सहिष्णुता जिसमें सदा भरपूर है ॥

प्रतिकूल से प्रतिकूल विषयों की व्यथा जिसको नहीं।
नीरस सरस कुछ भी रहे दुखकी कथा जिसको नहीं॥ ९ ॥

जो है मनोविजयी न जिसको मन नचा पाता कभी।
दुर्वृत्तियों को पीसता उनके न वश आता कभी॥
मनको बनाता देव-मन्दिर प्रेम--सिंहासन जहाँ।
माता अहिंसा का तथा सत्येश का आसन जहाँ॥ १० ॥

जिसका अहिंसा व्रत रहे ध्रुव मेरुसा निश्चल सदा।
दुःस्वार्थ के कारण न जग पर डालता जो आपदा॥
हो पूर्ण करुणा-मूर्ति कायरता मगर आने न दे।
जो न्याय को जलने न दे अन्याय को फलने न दे॥ ११ ॥

जो वज्रसा भी हो कठिन पर फूलसा कोमल रहे।
अन्यायियों पर हो अनल न्यायीजनों पर जल रहे॥
आपत्तियों की चोट सहने का हृदय में बल रहे।
सत्प्रण किया तो कर लिया पालन करे निश्चल रहे॥ १२ ॥

जिसकी तराजू न्याय की कोई हिला सकता नहीं।
अन्याय को अणुमात्र भी सुविधा दिला सकता नहीं॥
या लाँच रिश्वतकी कभी मदिरा पिला सकता नहीं।
सम्बन्ध से पक्षान्धता का विष मिला सकता नहीं॥ १३ ॥

यदि एक पलड़े पर रखी संसार की सम्पत्ति हो।
भय और विपदाएँ रहें सम्राट् की भी शक्ति हो॥
पर दूसरे पर न्याय हो तो न्याय ही जय पायगा।
गौरव मिलेगा न्याय को अन्याय लघु रह जायगा॥ १४ ॥

माता बहिन अथवा सुता जिसको सदा परकामिनी ।
गार्हस्थ्य जीवन में सदा है भामिनी ही स्वामिनी ॥
दाम्पत्य की अकलंकता जीवन रसायन है जिसे ।
निज प्राण से भी प्रिय अधिकतर शीलमय-मन है जिसे ।१५।

ऐश्वर्य को जिसने न समझा श्रेष्ठता का माप है ।
समझा वृथा सम्पत्ति-संग्रह पाप का भी बाप है ॥
सम्पत्ति जिसको बोझ है बस दान की ही चाह है ।
आवे न आवे नष्ट हो जावे न कुछ पर्वाह है ॥१६॥

सम्पत्ति पाई पर समझता है कभी स्वामी नहीं ।
हैं भोग सारे हाथ में बनता मगर कामी नहीं ॥
घर में भरा भंडार हो, फिर भी न अधिकारी बने ।
स्वामित्व की दुर्वासना से शून्य भंडारी बने ॥१७॥

धनका उचित उपयोग हो इसका सदा ही ध्यान है ।
होती जरूरत है जहाँ करता वहीं पर दान है ॥
पर दान को मनमें समझता भी नहीं अहसान है ।
करता सदा वह विश्व-हित में स्वार्थ का अवसान है ॥१८॥

अधिकार कितना भी रहे मद है न पर अधिकार का ।
अधिकार में भी ध्यान है सब के विनय का प्यारका ॥
अधिकार के बदले कभी पाता न जो धिक्कार है ।
अधिकार के उपयोग में आता न पापाचार है ॥१९॥

पाये सफलता पूर्ण पर अभिमान है लाता नहीं ।
व्यक्तित्व ईश्वर-सम बने उन्माद पर आता नहीं ॥

जिसकी महत्ता है विनय के रूप में परिणत सदा।
गौरव शिखर पर भी चढ़ा हो किन्तु मस्तक नत सदा ॥२०॥

मुख देखकर करता नहीं जो नीतिका निर्माण है।
जिसकी कसौटी नीतिकी संसार का कल्याण है॥
माने न माने यह जगत करता जगत का त्राण है।
है प्राण आवश्यक जहाँ देता वहीं पर प्राण है ॥२१॥

मानी नहीं मायी नहीं लोभी नहीं क्रोधी नहीं।
परमार्थ जिसका स्वार्थ है कल्याण-पथ-रोधी नहीं॥
संसार के उद्धार में जो मानता उद्धार है।
जिसको जगत के प्राणियों पर नित्य सच्चा प्यार है ॥२२॥

पालन करे पुरुषार्थ सब सर्वत्र सत्कर्मी रहे।
अर्थी रहे त्यागी रहे कामी रहे धर्मी रहे॥
सारी कलाओं में सुरुचि हो हो विकल जीवन नहीं।
हो सब रसों में एक रस रसहीन जिसका मन नहीं ॥२३॥

आलस्य हो जिसमें नहीं झूठा नहीं विश्राम हो।
दिनरात हो कर्तव्यमय कर्मण्यता का धाम हो॥
लेकिन सदैव निवृत्ति का रखना हृदय में ध्यान हो।
दुःस्वार्थ से बचता रहे परमार्थ का गुणगान हो ॥२४॥

हठ है न जिसको बातका कल्याण का ही ध्यान है।
कर्तव्य में जिसको बराबर मान या अपमान है॥
कर्तव्य में जो लीन है फलकी न आशा भी जिसे।
क्षणको अनुत्साही न कर सकती निराशा भी जिसे ॥२५॥



विपदा जिसे दुर्दैन्य की चोटें खिला सकती नहीं।
जिसका अदम्योत्साह मिट्टी में मिला सकती नहीं॥
सम्पत् जिसे अभिमान की मदिरा पिला सकती नहीं।
कर्तव्य के सन्मार्ग से अणुभर हिला सकती नहीं॥२६॥

कर्तव्य-पथ में मौत भी जिसको डरा सकती नहीं।
संसार भर की शक्ति अनुचित कृति करा सकती नहीं॥
जो घूमता है, मौत को अपनी हथेली पर लिये।
जीवन मरण की लालसा से दूर अपना मन किये॥२७॥

जिसको अयशका डर नहीं यश की न अंधी चाह है।
हो नाम या दुर्नाम केवल सत्य की पर्वाह है॥
जिसने निकाली कीर्ति की अपकीर्ति में से राह है।
दुनिया उसे कुछ भी कहे अपने हृदय का शाह है॥२८॥

सेवा न पहिचाने जगत पूछे न कोई बात भी।
कोई सुनावे गालियाँ कोई लगावे लात भी॥
दंभी फिरें रथपर चढ़े यह धूल ही फाँका करे।
सत्कार हो उनका वहाँ यह दूर ही झाँका करे॥२९॥

फिर भी नहीं जिसके हृदय में चाटुकारी आ सके।
खुश याकि नाखुश हो जगत जिसका न दिल पिघला सके॥
कर्तव्य करना है जिसे यश लूट लाना है नहीं।
सेवा बजाना है जिसे जगको रिझाना है नहीं॥३०॥

आदर अनादर या उपेक्षा एक सी जिसको सदा।
जिसके बदन पर दे दिखाई मुस्कराहट सर्वदा॥

जिसको निराशा हो नहीं नौका अड़ी मँझधार हो।
जीवन भले इसपार हो आशा मगर उस पार हो ॥३१॥

संसार को जो दे अधिक पर न्यून ही लेता रहे।
जीवन लगादे, विश्व को सेवा सदा देता रहे ॥
परकार्यसाधक साधु हो जो साधुताकी मूर्ति हो।
जिसका कुटुंबी हो न कोई वह उसी की पूर्ति हो ॥३२॥

स्थितिप्रज्ञ कहते हैं इसे अच्छी तरह तू जान ले।
निर्लिप्त रहकर कर्म करने की कला पहिचान ले ॥
सदसद्विवेक मिला तुझे उसका कहा तू मान ले।
कर्तव्य प्रस्तुत है यहाँ तू पूर्ति का प्रण ठानले ॥३३॥
(१४७)



पाँचवाँ अध्याय



अर्जुन— [पीयूषवर्ष]

धन्य हे माधव तुम्हें ज्ञानी तुम्हीं ।
हो तृषातुर के लिये पानी तुम्हीं ॥
अन्ध—जनकी आँखके तारे तुम्हीं ।
दीन हीन अनाथके प्यारे तुम्हीं ॥१॥

मोह से पीड़ित अखिल संसार है ।
शोक चिन्ता तापकी भरमार है ॥
वह रही है यह विषैली सी हवा ।
रोग बढ़ता ही गया ज्यों की दवा ॥२॥

है यहां कर्मण्यता मारी हुई ।
हैं श्रुति-स्मृति भी यहाँ हारी हुई ॥
यत्न हैं अब हो चुके सारे मुधा ।
पर पिलाई आज है तुमने सुधा ॥३॥

अब बनेगा स्वर्ग यह संसार भी ।
अब यहां निर्मोह होगा प्यार भी ॥

वैर भी निर्वैर––सा होगा यहाँ।
त्याग की जड़ता रहेगी अब कहाँ ॥४॥

है दवा अनुपम तुम्हारी है सखे।
युक्तियाँ कल्याणकारी है सखे॥
पर तुम्हें है एक कठिनाई यहां
रोग है शतार का भाई यहां ॥५॥

पा रहा अनुपम तुम्हारा प्यार हूँ।
और औषध के लिये तैयार हूँ॥
पर कहूँ क्या मैं कि मोहागार हूं।
जन्मजन्मों का विकट वीमार हूं ॥६॥

आ रहे सन्देह के चक्कर मुझे।
कटुकसा है दूध गुड़ शक्कर मुझे॥
बढ़ रहा चिन्ता अनल का ताप है।
बोलना भी आज वात-प्रलाप है ॥७॥

पर मिला जब वैद्य है तुमसा मुझे।
रोग की चिन्ता भला है क्या मुझे॥
हो परेशानी तुम्हें मैं क्या करूं।
क्यों न सब सन्देह मैं आगे धरूं ॥८॥

जो कही स्थिति-प्रज्ञकी तुमने कथा।
वह करेगी दूर जगकी सब व्यथा॥
मार्ग है अनुपम सुखों का गेह है।
किन्तु पदपद पर मुझे सन्देह है ॥९॥

विश्व-प्रेमी हो न माने जाति क्यों ?
और तोड़े कुल कुटुंबी ज्ञाति क्यों ?
उस विधाताने किये ये भेद क्यों ?
ईशकी कृति में मनुज को खेद क्यों ॥१०॥

विप्र क्षत्रिय वैश्य क्या सम हैं कहो।
जन्म से द्विज शूद्र क्या हम हैं कहो ॥
एक द्विज भी हाय शूद्र समान हो ।
क्यों न द्विजताका बड़ा अपमान हो ॥११॥

काच है तो काच ही कहलायगा ।
वह न हीरक हारसे तुल पायगा ॥
शक्ति की प्रति-मूर्ति है जो शेर है।
श्वान से तुलना करो अन्धेर है ॥१२॥

हो न यदि वैषम्य तो संसार क्या।
हो न नर नारी विषम तो प्यार क्या ?
हो प्रलय यदि साम्यका अतिरेक हो।
कौन किसका हो अगर जग एक हो ॥१३॥

एकसे हों सब जरूरत क्या रहे ?
कौन किसका बोझ अपने पर सहे ॥
रह सके सहयोग का फिर नाम क्यों ।
काम क्यों ये धाम क्यों ये ग्राम क्यों ॥१४॥

है विषमता है तभी सहयोग भी।
हैं विविध रस हैं तभी ये भोग भी ॥

यदि सभी हों एक, क्या होगा भला ?
रह न पायेगी कला घुट कर गला ॥१५॥

एक सज्जन एक दुर्जन क्रूर हो।
एक कायर एक दिखता शूर हो॥
विविधता जब इस तरह भरपूर हो।
क्यों न तब वह प्रकृति को मंजूर हो॥१६॥

जातियों की है विविधता व्यर्थ क्या ?
जातिके समभाव का है अर्थ क्या।
दूर कर संदेह समझाओ मुझे।
सत्यके पथपर सखे लाओ मुझे॥१७॥

श्रीकृष्ण—

गीत १४

भोले भाई तू भूल रहा कुछ जाति भेद का ज्ञान नहीं।
वैषम्य साम्य है योग्य कहाँ इसकी तुझको पहिचान नहीं॥
यदि हो समता का नाम नहीं जग में केवल वैषम्य रहे।
तो पलभर में हो जाय प्रलय जगका हो नाम निशान नहीं॥
यदि हो सत्ता का साम्य नहीं सारे जग में मुझ में तुझ में,
तो शून्य रूप हो जगत रहे सत्ता का अणुभर भान नहीं॥
यदि चेतन की समता न रहे खगमें, मृगमें, मुझमें तुझमें।
जड़ता अखंड होगी ऐसी होगा जिस का अवसान नहीं॥
मानवता भी यदि जाति न हो मानवकी क्या पहिचान रहे।
फिर पशुता का आक्रन्दन हो मानवता की मुसकान नहीं॥
वैषम्य, साम्यकी माया है यह साम्य ब्रह्म है व्याप्त यहां।

यदि ब्रह्म नहीं, तो मायाका भी हो सकता है भान नहीं ॥
विषमों में यदि समता न रहे सहयोग बने कैसे उनमें।
कैसे उनमें पूरकता हो दोनों हों अगर समान नहीं ॥
पद-पाणि वक्ष सिर पीठ उदर इन विषमों में समता न रहे।
तो हो मुर्दों का ढेर जगत हो जीवन का कलगान नहीं ॥
समता में और विषमता में मर्यादा और समन्वय हो।
तो हो जीवन की वृद्धि यहां जड़ता का हो उत्थान नहीं ॥

गीत १५

निरर्थक भेद भाव दे छोड़।
एक जाति है मानव जगमें सब से नाता जोड़ ॥
निरर्थक भेदभाव दे छोड़ ॥२७॥

मैं हूँ गोरा तू है काला।
मत कर भेद, न बन मतवाला।
एकाकार मनुष्य जाति है उससे मत मुँह मोड़।
निरर्थक भेदभाव दे छोड़ ॥२८॥

पशु पक्षी नानाकृतिवाले ।
पर सब मानव एक निराले ॥
इसीलिये मानव मानव में जातिभेद दे तोड़।
निरर्थक भेदभाव दे छोड़ ॥२९॥

विप्र कहाओ शूद्र कहाओ।
अथवा क्षत्र वैश्य बनजाओ ॥
हैं केवल जीविका-भेद ये दे अभिमान मरोड़।
निरर्थक भेदभाव दे छोड़ ॥३०॥

गुण से ही मिलता सच्चा पद ।
उच्च नीच का है झूठा मद ॥
मदमय मन मत कर, विष हरकर, दे वह विष-घट फोड़ ।
निरर्थक भेदभाव दे छोड़ ॥३१॥

गीत १६

जातियाँ हैं सब कर्म-प्रधान ।
जैसा कर्म करे जो मानव वैसा उसका मान ।
जातियाँ हैं सब कर्म-प्रधान ॥३२॥
ब्राह्मण कुलमें पैदा होकर दिया न जगको ज्ञान ।
विद्या में जीवन न दिया तो हैं वह शूद्र-समान ॥
जातियाँ ह सब कर्म-प्रधान ॥३३॥
अगर शूद्र कुल में पैदा हो लेकिन हो विद्वान ।
समझो विप्र, विप्रताकी है सद्विद्या पहचान ॥
जातियाँ हैं सब कर्म प्रधान ॥३४॥
जन्म निमित्तरूप है केवल है साधन सामान ।
साधन पाये कार्य न पाया व्यर्थ नामका गान ॥
जातियाँ हैं सब कर्म-प्रधान ॥३५॥
कार्य-सिद्धि होगई मिला यदि गुणगण का सन्मान ।
कारण पूरे हों कि अधूरे फिर क्या खींचातान ॥
जातियाँ हैं सब कर्म-प्रधान ॥३६॥
सामाजिक सामयिक भेद ये सुविधा के सामान ।
सामञ्जस्य यहां जैसे हो कर वैसे आदान ॥
जातियाँ हैं सब कर्म-प्रधान ॥३७॥

गीत १७

जातियाँ हमने बनाई कर्म करनेके लिये ।।
हैं नहीं ये दूसरों का मान हरने के लिये ।।३८।।

ईशकी कृतियाँ नहीं ये प्रकृति की रचना नहीं ।
कल्पना बाज़ार की हैं पेट भरने के लिये ।।३९।।

जिस तरह सुविधा हमें हो उस तरह रचना करें ।
जाति जीनेके लिये है है न मरने के लिये ।।४०।।

विप्रता की है जरूरत शूद्रताकी भी यहां
प्रेमसे जग में मिलेंगे हम विचरने के लिये ।।४१।।

विप्रता का मद नहीं हो शूद्रता का दैन्य भी ।
हो परस्पर प्रेम यह संसार तरने के लिये ।।४२।।

हरि-गीतिका

उसमें रहे आसक्ति क्यों जिसका न कुछ जड़ मूल है ।
प्रासाद था जो एक दिन पर बन गया अब धूल है ।
जो फूलसा कोमल कभी था पर बना अब शूल है ।
अनुकूल था जो मूल में अब हो गया प्रतिकूल है ।।४३।।

अर्जुन— (ललित पद)

माधव मेरा जाति-मोह अब है मरने को आया ।
पर बुझते दीपक समान है इसने ज़ोर जनाया ।।
जाति-भेद प्राकृत मत मानो ईश्वरकृति न बताओ ।
पर निःसार मानलूँ कैसे इसकी युक्ति सिखाओ ।।४४।।

था वह क्यों अनुकूल मूलमें अब प्रतिकूल हुआ क्यों ।
कैसे था वह फूल किसी दिन फिर अब शूल हुआ क्यों ॥
था कैसे प्रासाद रूप वह पर अब धूल हुआ क्यों ।
रोपा था किसलिये कभी वह अब गतमूल हुआ क्यों ॥४५॥

श्रीकृष्ण—

जब था जाति-भेद जीवन में समता देनेवाला ।
बेकारी की जटिल समस्याएँ हरलेनेवाला ॥
जब इसके द्वारा धंधेकी चिन्ता उड़ जाती थी ।
तभी श्रुति-स्मृति जाति-भेदको हितकर बतलाती थी ॥४६॥

इससे अच्छी तरह अर्थ का होता था बटवारा ।
देता था संतोष सभी को बनकर शांति-सहारा ॥
सुविधा की थी बात, वर्ण का था न मनुज अभिमानी ।
विप्र शूद्र सब एक घाट पीते थे मिलकर पानी ॥४७॥

सब ही की सेवा समाज में, हितकर कहलाती थी ।
इसीलिये मानव पर मानवको न घृणा आती थी ॥
था कुटुम्ब सा जगत मिले रहते थे चारों भाई ।
जुदा जुदा था कार्य्य मगर जीवन में न थी जुदाई ॥४८॥

रुचि-योग्यता देखकर सबका योग्य विभाग बनाया ।
बना कर्म से जो विभाग, वह जाति-भेद कहलाया ॥
न थी किसी को मिली गुणों की कोई ठेकेदारी ।
उच्च-नीचता-भेद-भावकी थी न कहीं बीमारी ॥४९॥

खान पान व्यवहार विवाहादिक का भेद नहीं था ।
विप्र शूद्र से मिले किसी को मन में खेद नहीं था ॥

वैवाहिक व्यवहार आदि में सब विचार आते थे।
किन्तु जातिमद के विचार मुख भी न दिखा पाते थे ॥५०॥

जाति-भेद तब सार-युक्त था अब निस्सार हुआ है।
आया जब से दुरभिमान तबसे यह भार हुआ है॥
फैल गया है द्वेष आज दुर्लभतम प्यार हुआ है।
इसीलिये यह स्वर्ग-तुल्य जग, नरकागार हुआ है ॥५१॥

बदला कोमल हृदय इसीसे अब यह शूल हुआ है।
अब न शांति छाया मिलती है, इससे धूल हुआ है॥
लक्ष्य भ्रष्ट हो गया इसीसे अब गतमूल हुआ है।
बदल गया संसार इसीसे, अब प्रतिकूल हुआ है ॥५२॥

मूलरूप में रहें जातियाँ, कोई हानि नहीं है।
किन्तु नष्ट हो जाय विकृति सब, फैली जहाँ कहीं है॥
कार्य्य-विभाग अवश्य रहे पर वह न अमिट हो पावे।
निज निजके अनुरूप सभीका, कार्य्यभेद बन जावे ॥५३॥

जाति भले मिटजाय, विषमता मे न जगत है खाली।
सदा रहेगी वह जगमें, सहयोग बढ़ानेवाली॥
रुचि आदिक का भेद रहे, वह है न कभी दुखदाई।
दुखदाई है जाति-भेद से बिछुड़े भाई भाई ॥५४॥

भेद रहेगा और जरूरत होगी सबको सबकी।
इन भेदों से मगर जाति की, नातेदारी कब की?
भेद रहे वैषम्य रहे वह, जो सहयोग बढ़ावे।
पर यह मानव-जाति न चिथड़े चिथड़े होने पावे ॥५५॥

कर्म-भेदसे जाति-भेद है वह कुछ अमिट नहीं है।
बाज़ारू बातों सिवाय फिर, रहता नहीं कहीं है॥
देश जाति वंशादि भेद से नहीं जाति का नाता।
पक्षपात मदमोह आदि से मनुज तुच्छ बनजाता ॥५६॥

जाति-मोह से न्याय और अन्याय भूल जाता है।
कार्य्य-क्षेत्र में तब पद पद पर पक्षपात आता है॥
प्रेम, न्याय का पक्ष छोड़ कर अंधा बन जाता है।
द्वेषी और उपेक्षक बनकर ताण्डव दिखलाता है ॥५७॥

वीर छन्द

इसीलिये स्थितिप्रज्ञ जाति का मोह सदा रखता है दूर।
सर्व-जाति-समभाव दिखाता, भेद-भाव कर चकनाचूर॥
रहता है निष्पक्ष न्यायरत विश्व-प्रेम का पूर्णागार।
बनता है निर्लिप्त और कर्तव्यशील वह परम उदार ॥५८॥

बन जा तू स्थितिप्रज्ञ जगत की झूठी माया से मुँह मोड़।
मानव मानव एक जाति हैं जातिपाँति के झगड़े छोड़ ॥
जो न्यायी है वही कुटुम्बी उससे ही तू नाता जोड़।
करले अब कर्तव्य कर्म तू कुल कुटुम्ब का बन्धन तोड़ ॥५९॥

(२०६)



छट्ठा अध्याय



अर्जुन— [रोला]

माधव मेरा जाति-मोह मर गया आज है ।
मानवता का आज मनोहर सजा साज है ॥
अब न जाति का पक्षपात मुझमें आवेगा ।
वंश-मोह कुल-मोह दूर ही रह जावेगा ॥१॥
जो न्यायी है और जगत को है सुखदाई ।
प्रेममूर्ति निष्पक्ष वही है मेरा भाई ॥
जन्म-भेद से भेदभाव होना न चाहिये ।
सर्व-जाति समभाव कभी खोना न चाहिये ॥२॥
किन्तु यहां भी मुझे हो रहा है यह संशय ।
नरनारी का भेद करेगा समता का क्षय ॥
नरनारी की प्रकृति और आकृति विभिन्न है ।
इसीलिये सम-भाव-सूत्र हो रहा छिन्न है ॥३॥
नर है पौरुष-धाम सुधी कर्मठ बलशाली ।
दृढ़मन दृढ़तन निडर साहसी गुणगणशाली ॥

नारीका है भीरु हृदय, है कोमल काया।
है विलासिनी और सदा करती है माया ॥४॥
हो दोनों में प्रेम, किन्तु हो समता कैसे।
समता यदि आ जाय रहे फिर ममता कैसे॥
अधिकारों का द्वंद क्यों न तब हो घर घरमें।
हो दुर्लभ तब शान्ति हमारे जीवन-भरमें ॥५॥

श्रीकृष्ण—अर्जुन तुझसे पक्षपात हो रहा यहां है।
पक्षपात है जहां वहां पर न्याय कहां है॥
सब में हैं गुण दोष रहे नर अथवा नारी।
किसी एक में है न गुणों का पलड़ा भारी ॥६॥
नारी भी धीमती और है पौरुषवाली।
कर सकती है तभी कुटुम्बों की रखवाली।
कर्मठता की मूर्ति नहीं होती यदि नारी।
कैसे जीता पुरुष प्राण भी होते भारी ॥७॥
यदि नारी का हृदय न होता दृढ़ता का घर।
रहता कैसे कुल कुटुम्ब का पता यहां पर।
अंधड़के पत्ते समान उड़ते रहते सब।
दृढ़ नारीके बिना कौन होता किसका कब ॥८॥
कोमल तन है किन्तु सहनशीला असीम है।
कहलाती है भीरु अभय लीला असीम है।
है विलासिनी किन्तु त्यागकी मूर्त्ति न कम है।
है एकांगी दृष्टि इसीसे तुझको भ्रम है ॥९॥

कैसा है वह कष्ट जिसे सह सके न नारी।
कैसी वह दुर्दशा जहां रह सके न नारी।
सहन-शीलता कूटकूट कर भरी जहां है।
कह सकता है कौन न दृढ़ता भरी वहां है॥१०॥

त्याग–वीरता–सहनशीलता–तप–चतुराई।
ब्रह्मचर्य-वात्सल्य आदि गुणगण सुखदाई।
नरनारी में हैं समान कुछ भेद नहीं है।
व्यक्ति-भेद से भेद जगत में सभी कहीं है॥११॥

हैं ऐसी नारियाँ नरोंसे बढ़ जातीं जो।
गुणगण-पारावार अधिक आदर पातीं जो।
हैं ऐसे भी पुरुष नारियों से बढ़ जाते।
गुणगण के भंडार अधिक आदर जो पाते॥१२॥

नारीमात्र न हीन नहीं नरमात्र हीन हैं।
दोनों हैं स्वाधीन परस्पर या अधीन हैं॥
एक शक्ति की मूर्त्ति एक है शिव की मूरति।
दोनों हैं बेजोड़ परस्पर हैं पत्नी पति॥१३॥

पति स्वामी, यह अर्थ पकड़ कर अगर रहोगे।
तो पत्नीका अर्थ स्वामिनी क्यों न कहोगे।
है अद्भुत सम्बन्ध परस्पर दोनों स्वामी।
या हैं दोनों दास परस्पर या अनुगामी॥१४॥

यद्यपि कुछ वैषम्य यहां हो रहा ज्ञात है
किन्तु उच्चता और नीचता की न बात है॥

दोनों ही निज निज विशेषता लिये हुए हैं ।
दोनों ही अवलम्ब परस्पर दिये हुए हैं ॥१५॥

नरकी जो त्रुटि उसे पूर्ण करती है नारी ।
नारी नरके लिये इसीसे है दुखहारी ॥
जो नारी की कमी उसे नर पूरित करता ।
इस प्रकार नर सकल दुःख नारीके हरता ॥१६॥

जब हैं दोनों जुदे जुदे तब निपट अधूरे ।
जब दोनों अन्योन्य-सहायक तब हैं पूरे ॥
मानव के दो अंग समझलो हैं नरनारी ।
दोनों ही निज निज विशेषता में हैं भारी ॥१७॥

सामाजिक सुविधार्थ कार्य का भेद बनाया ।
उच्च नीच का भेद नहीं है इसमें आया ॥
कोई घरमें रहे रहे कोई घर बाहर ।
अपना अपना काम करें मिलकर नारीनर ॥१८॥

कार्य-भेद से जो स्वभाव का भेद दिखाता ।
सामाजिक संस्कार आदि से जो आजाता ॥
लगता है वह अचल किन्तु पर्याप्त चपल है ।
जहां परिस्थिति भिन्न वहांपर अदलबदल है ॥१९॥

कोमलता भीरुत्व अस्त्र–संचालन या रण ।
माया का बाहुल्य आदि के हैं जो कारण ॥
ये स्वाभाविक नहीं, परिस्थिति से आते हैं ।
जहां परिस्थिति भिन्न वहांपर मिट जाते हैं ॥२०॥

'घर' नारीको दिया दिया जब नरको 'बाहर'
तब दोनों में भाव-भेद दिख पड़ा यहां पर ॥
बाहर का संघर्ष नहीं नारीने पाया।
कोमलता भीरुत्व इसीसे उसमें आया ॥२१॥

रणसज्जाका कार्य नहीं है घरके भीतर।
इसीलिये है शस्त्रशून्य नारी जीवनभर ॥
फिर भी लड़ती वहां जहां है अवसर पाती।
दिखलाती है शौर्य बिजलियाँ ह चमकाती ॥२२॥

नर करता जो कार्य वही नारी कर सकती ॥
नर हरता जो विपद वही नारी हर सकती ॥
गुण दुर्गुण के योग्य सभी हैं नर या नारी।
नर 'बेचारा' कभी कभी नारी 'बेचारी' ॥२३॥

घर बाहर का भेद बना भेदों का कारण।
दूर हुआ ईमान और टूटा नरका प्रण।
अर्थ-सूत्र का दुरुपयोग कर बैठा नर जब।
नारी लुटसी गई न्यून अधिकार हुए तब ॥२४॥

तब ही अबला बनी बढ़ी तब उसकी माया।
निर्बलता है जहां वहां मायाकी छाया ॥
नर या नारी रहे जहां निर्बलता होगी।
होगा मायाचार वहीं पर खलता होगी ॥२५॥

यदि नर घरमें रहे रहे यदि नारी बाहर।
नर नारी सा बने बने नारी मानो नर ॥

कोमलांग नर बने बने अतिमायाचारी ।
भीरु सतत लज्जालु परमुखाकांक्षाधारी ॥२६॥

अर्थसूत्र आजाय अगर नारीके करमें ।
उसका शासन चले नगर-भरमें घर-घरमें ॥
पुरुषों के गुण-दोष नारियों में आजावें ।
नारीके गुण-दोष नरों में स्थान जमावें ॥२७॥

नरनारीके दोष और गुण अमिट नहीं जब !
है नरत्व का पक्षपात उन्माद व्यर्थ तब ॥
दोनों में समभाव समादर सदा चाहिये ।
दोनों समबल बनें जगत् कल्याण के लिये ॥२८॥

कार्यभेद भी रहे हानि की बात नहीं है ।
सबकी सुविधा जहां न्यायकी बात वहीं है ॥
जिसमें जो हो योग्य वहां वह हो अधिकारी ।
पर इसका यह अर्थ नहीं, हो अत्याचारी ॥२९॥

अपना अपना काम सँभालें मिले रहें पर ।
जुदे रहें वादित्र मगर हो मिला हुआ स्वर ॥
नीच-ऊँच का भेदभाव धरना न चाहिये ।
समझौते का दुरुपयोग करना न चाहिये ॥३०॥

'नारी तो है भोग्य' नहीं यह समझो मनमें ।
और न गणना करो कभी नारी की धनमें ॥
नारी नर के तुल्य भोज्य या भोजक दोनों ।
विश्वरंग के हैं समर्थ ये योजक दोनों ॥३१॥

नारी को यदि पुरुष-परिग्रह जाना तुमने ।
उसको दासी-तुल्य भूलकर माना तुमने ॥
तो समझो अंधेर मचाना ठाना तुमने ।
सत् शिव सुन्दरका न रूप पहिचाना तुमने ॥२२॥

नारी को धनरूप समझना अति अनर्थ है ।
यदि अनर्थ यह रहे सभ्यता आदि व्यर्थ है ॥
इस अनर्थ के कुफल चखे हैं तुमने अर्जुन ।
तड़प रहा है हृदय लगा है जीवन में घुन ॥२३॥

तुम लोगों में अगर समझदारी यह आती ।
नर नारी में यदि समानता आने पाती ।
तो अनर्थ की परम्परा कैसे दिखलाती ।
क्यों देवी द्रौपदी दावपर रक्खी जाती ॥२४॥

दुःशासन निर्लज्ज नीचता करता कैसे ।
भाभीकी भी लाज सभामें हरता कैसे ॥
मनुष्यत्व को छोड़ पाप-घट भरता कैसे ॥
भीष्म द्रोणका मनुष्यत्व भी मरता कैसे ॥२५॥

क्यों अंधा धृतराष्ट्र हृदय का अन्धा होता ।
पुत्रवधू का लाज लुटाकर लज्जा खोता ॥
धर्मराज का धर्म लगाता घूँघट कैसे ।
पड़ता सब के मनुष्यत्व वटपर पट कैसे ॥२६॥

कैसा यह अंधेर अरे यह कैसी छलना ।
है पशुओं के तुल्य आज आर्यों में ललना ॥

यह है गलना कोढ़ सभ्यता का है गलना ।
मानवको रह गया आज जीते जी जलना ॥३७॥
नारी हो सम्पत्ति दाव पर रक्खी जावे ।
माता पुत्री बहिन क्यों न तब धन कहलावे ॥
फिर तो धनके तुल्य बने नर इन का भी पति ।
हो अतिपापाचार महाव्यभिचार अधोगति ॥३८॥
नर-नारी-समभाव अगर रख सके न मानव ।
तो मानवता दूर रहे हैं मानव दानव ॥
क्यों फिर नरक परोक्ष रहे पंडित–प्रजल्पना ।
घर घरमें प्रत्यक्ष बने जब नरक–कल्पना ॥३९॥
नर-नारी-वैषम्य वृक्ष है फलने आया ।
उसने कैसा आज महाभारत मचवाया ॥
गर्ज रहा है आज पाप, पीड़ित के सन्मुख ।
तड़प रहा है न्याय और पापी पाता सुख ॥४०॥
पापों का भी पाप यहां संकलित हुआ है ।
सत्यासन भी आज यहां पर चलित हुआ है ॥
नहीं समझ द्रौपदी मान ही गलित हुआ है ।
किन्तु आज नारीत्व यहां पद-दलित हुआ है ॥४१॥
दूर हटा अविवेक पापके खंड खंड कर ।
यह प्रचंड कोदंड उठा अत्याचारों पर ॥
गूंज उठे ब्रह्मांड जगे यह जगत चराचर ।
नरनारी समभाव जगत में फैले घर घर ॥४२॥
(२४८)

सातवाँ अध्याय



अर्जुन— (रोला)

माधव तुमने सर्व–जाति–समभाव सिखाकर ।
नरनारी के योग्य न्याय्य सम्बन्ध दिखाकर ॥
जाति–पाँति का भूत भगाया मेरे सिरसे ।
पक्षपात की जड़ उखाड़ दी तुमने फिरसे ॥१॥

नरनारी का पक्षपात अब क्यों आवेगा ।
कुल कुटुम्ब का मोह यहां क्यों दिखलावेगा ।
पनपेगा समभाव बनेगा हृदय विरागी ।
बनकर मैं स्थितिप्रज्ञ बनूंगा सच्चा त्यागी ॥२॥

पक्षपात को छोड़ दिया है मैंने माधव ।
नहीं रहा अब शेष किसी से मुझे मोह लव ॥
लेकिन कहदो पाप-पुण्य-समभाव करूँ क्या ।
समभावी बन कहो जगतके प्राण हरूँ क्या ॥३॥

सब धर्मों में मुख्य अहिंसा धर्म बताया ।
पर है हिंसा-कांड यहां पर सन्मुख आया ॥

कैसे हिंसा करूं अहिंसा कैसे छोड़ूँ ।
क्यों हिंसा से विश्व-प्रेम का बंधन तोड़ूं ॥४॥

समझा मैं स्थितिप्रज्ञ नहीं है द्वेषी रागी ।
समभावी है पक्षपात का पू॰ त्यागी ॥
वह सारे कर्तव्य करेगा निर्भय होकर ।
रक्खेगा समभाव मोह ममता को धोकर ॥५॥

पर वह कार्याकार्य-विवेकी क्यों न रहेगा ।
क्यों हिंसा के परम पाप का ताप सहेगा ।
अकर्तव्य कर्तव्य बनायेगा वह कैसे ।
कार्याकार्य-विवेक न पायेगा वह कैसे ॥६॥

यद्यपि तुम हो बन्धु, मुझे इतना समझाते ।
पर संशय-कल्लोल एक पर एक दिखाते ॥
ये संशय-कल्लोल शान्त तुम ही कर सकते ।
सारी विपदा मनोवेदना तुम हर सकते ॥७॥

बोलो प्यारे बन्धु मूढ़से फिर भी बोलो ।
मुझ अन्धेके ज्ञान-न-न करुणाकर खोलो ।
रहूं अहिंसक छू न सके हिंसा की छाया ।
कर जाऊं कर्तव्य मोहकी लगे न माया ॥८॥

श्रीकृष्ण— (हरिगीतिका)

अर्जुन तुझे संशय हुआ इसका न मुझको खेद है ॥
ऋषि मुनि समाजाते यहां मिलता न इसका भेद है ॥
हिंसा अहिंसा है कहां, तुझको अभी अज्ञात है ।
'होती अहिंसा किस जगह हिंसा, कठिन यह बात है ॥९॥

है प्राणियों का नाश हिंसा कोष का यह अर्थ है।
पर कार्य के सुविचार में यह अर्थ होता व्यर्थ है।
हिंसा अहिंसा को समझले मूलसे अब तू यहां
तब समझमें आजायगा हिंसा अहिंसा है कहाँ ॥१०॥

पहिले समझले 'पाप हिंसा है' कहा यह किसलिये।
हिंसा बताया धर्म क्यों ये भेद क्यों किसने किये॥
उत्तर यहां है शान्ति होती है अहिंसा से सदा।
अधिकार का रक्षण तथा कल्याण होता सर्वदा ॥११॥

दुखमूल हिंसा है, अहिंसा शान्ति-सुखका मूल है।
यह नियम है सच्चा मगर दिखता कभी प्रतिकूल है।
दुख-दासता-कारण अहिंसा देखते हैं हम कभी।
हिंसा भयंकर भी दुखोंका बोझ करती कम कभी ॥१२॥

अन्याय हो फिर भी अहिंसा को लिये बैठे रहो।
तो पाप का तांडव मचेगा शांति क्यों होगी कहो।
एकान्त हिंसा या अहिंसा का न करना चाहिये।
सच्छांति-रक्षण के लिये भूभार हरना चाहिये ॥१३॥

अन्यायियों को दंड यदि मानव नहीं दे पायगा।
तो न्याय की वह दुर्दशा होगी कि सब लुट जायगा॥
होगी अहिंसा मृत्युसम कल्याण के प्रतिकूल ही।
फिर धर्म क्यों होगा अहिंसा यदि बने सुखशूल ही ॥१४॥

यदि अल्प हिंसासे अधिक हिंसा टले सुख शान्ति हो।
तो 'अल्प हिंसा है अहिंसा' क्यों यहां पर भ्रान्ति हो ॥

सुख शान्ति का जो मूल है वह ही अहिंसा धर्म है ।
हो वह अहिंसा रूप हिंसारूप या सत्कर्म है ॥१५॥

स्वाभाविकी हिंसा

है पञ्चविध हिंसा प्रथम 'स्वाभाविकी' यह नाम है ।
जो है न हिंसारूपिणी जो प्रकृतिका परिणाम है ॥
अनिवार्य है, उसके लिये कोई इरादा है नहीं ।
यह स्वास उच्छ्वासादि में होती सदा है सब कहीं ॥१६॥
जीवन मरण का कार्य प्राकृत रीतिसे जो चल रहा ।
स्वाभाविकी हिंसा अवश्यम्भावि फल उसका कहा ॥
है प्राणिवध होता यहां होता नहीं पर पाप है ।
इसमें किसी का दोष क्या यह प्रकृतिका अनुताप है ॥१७॥

आत्मरक्षिणी हिंसा

अन्याय अत्याचार अपने पर अगर कोई करे ।
बन आततायी मनुज या पशु प्राण भी अपने हरे ।
तो आत्मरक्षण के लिये संहार यदि अनिवार्य है ।
तो है न हिंसा प्राणिवध में प्राणिवध भी कार्य है ॥१८॥
औचित्य की सीमा रहे, इसमें नहीं फिर दोष है ।
जो आत्मरक्षक है, रहे हिंसक, मगर निर्दोष है ॥
दोषी वही जिसने प्रथम अन्याय से समता हरी ।
निजरक्षिणी है यह अहिंसारूप हिंसा दूसरी ॥१९॥

पररक्षिणी हिंसा

संसार का जो शत्रुसा है नीतिका नाशक तथा ।
निर्दोष लोगों के लिये देता सदा नवनव व्यथा ॥

जो देशको या कुल कुटुम्बी मित्र दल को त्रास दे ।
निर्दोष का संहार कर जो नरकका आभास दे ॥२०॥
संहारमय जिसकी प्रकृति, जो शान्तिका भंजन करे ।
हो रौद्र, जन-संहार में जो हृदय का रंजन करे ॥
जो भार है संसार का है स्रोत अत्याचार का ।
जो आततायी विश्वका वह पात्र है संहारका ॥२१॥
निज देश-रक्षण के लिये यदि युद्ध भी करने पड़ें ।
यदि आक्रमणकारी दलों के प्राण भी हरने पड़ें ॥
अधिकार-रक्षण के लिये यदि शत्रु-वध अनिवार्य है ।
तो है नहीं हिंसा यहां कर्तव्यका ही कार्य है ॥२२॥
यदि पापियों के पाप से अपनी न कोई हानि हो ।
पर दूसरों की हानि हो बनता जगत दुखखानि हो ।
इसके लिये हिंसा हुई वह जान ले करुणाभरी ।
'पररक्षिणी' यह है अहिंसारूप हिंसा तीसरी ॥२३॥

आरम्भजा-हिंसा

'आरंभजा' हिंसा यथा-सम्भव न हिंसागार है ।
गृहकार्य में उद्योग में जो वृत्ति का आधार है ॥
कृषिकार्य में हिंसा यही जिसमें न कोई दोष है ।
जो अन्न देकर मांस-भक्षण रोकती, यह तोष है ॥२४॥
आरम्भजा हिंसा कही अनिवार्य जीवन के लिये ।
इससे न हिंसारूप है यह प्राण हैं इसने दिये ॥
आरम्भ यदि ये बन्द हों मानव वृथा मर जायगा ।
फिर साधुता होगी कहाँ बस पाप ही भर जायगा ॥२५॥

अनिवार्य जो आरम्भ हो उसको समझ मत पाप तू।
वह दूसरा करदे करे या कार्य अपनेआप तू ॥
हैं कार्य दोनों एकसे अन्तर समझना व्यर्थ है।
निर्दोष बनने के लिये आलस्य एक अनर्थ है ॥२६॥

उद्योग सारे एक ही नर हैं न कर सकता कभी।
जितना बने जो काम जब उतना करें हम सब तभी ॥
जो बन सके वह जग करे जो बन सके वह हम करें।
हां, बन सके जितनी वहाँ तक प्राणि-हिंसा कम करें ॥२७॥

आरम्भ या उद्योग छोड़ा यह अहिंसा है नहीं।
होता जहां पर भोग है तज्जन्य हिंसा भी वहीं ॥
आरम्भका है त्याग अपरिग्रह बनाने के लिये।
मितभोगता है विश्व की सेवा बजाने के लिये ॥२८॥

हाँ, जो अनावश्यक रहे उद्योग वह करना नहीं।
या प्राणिवध को लक्ष्य करके पाप-घट भरना नहीं ॥
जितना बने उतना अहिंसा के लिये ही यत्न हो।
हिंसा अहिंसा के लिये करके मनुज नररत्न हो ॥२९॥

संकल्पजा–हिंसा

संकल्पजा है पाँचवीं हिंसा यही है दुखकरी।
निर्दोष का वध है जहां हिंसा वहीं है अघभरी ॥
दुःस्वार्थवश अपराध-हीनों को अगर कुछ दुख दिया।
संकल्पजा हिंसा हुई जिसने जगत दुखमय किया ॥३०॥

मिलता अगर है अन्न तो है मांस-भक्षण में यही।
हो यज्ञके भी नामपर पशु-वध, यही हिंसा कही।

निर्दोष पशुके रक्तकी नदियाँ बहाना किसलिये ।
जब अन्न ईश्वरने दिया तब मांस खाना किसलिये ॥३१॥

संकल्पजा हिंसा किसी को भी न करना चाहिये ।
'सत्त्वेषु मैत्री' का हृदयमें भाव धरना चाहिये ।
अनिवार्य हिंसा हो कभी तो न्यून से भी न्यून हो ।
यह पाप का भी पाप है नाहक किसीका खून हो ॥३२॥

है पंचविध हिंसा मगर संकल्पजा ही त्याज्य है ।
संकल्पजा हिंसा जगत में पापका साम्राज्य है ।
अवशिष्ट हिंसाएँ अहिंसा–तुल्य या क्षंतव्य हैं ।
यों बाह्य हिंसा के विषय में ये विविध मन्तव्य हैं ॥३३॥

हिंसा कही है पंचविध षड्विध अहिंसा की कथा ।
होती अहिंसा भी कभी हिंसा–जनक, देती व्यथा ॥
हिंसा अहिंसा है नहीं निर्णीत बाह्याचार से ।
निर्णीत होगी भावना फल आदि नाना द्वार से ॥३४॥

बंधुत्वजा अहिंसा

बन्धुत्वजा पहिली अहिंसा प्रेम की जो मूर्ति है ।
निःस्वार्थ है पर प्राणियों के स्वार्थ की परिपूर्ति है ।
जिससे हृदय की वृत्ति हो बन्धुत्वमय करुणावती ।
है विश्व–प्रेममयी वही सच्ची अहिंसा भगवती ॥३५॥

अशक्तिका–अहिंसा

हिंसा हृदय में है भरी पर शक्ति करने की नहीं ।
दिल जल रहा पर योग्यता है जलन हरनेकी नहीं ॥

यद्यपि अहिंसा-रूपिणी है पर नितान्त अशक्तिका ।
इससे न मिल सकता कभी परिचय अहिंसा-भक्तिका ॥३६॥

निरपेक्षिणी--अहिंसा

सम्पर्क में आते नहीं संसारके प्राणी सभी ।
रहती उपेक्षा हो इसीसे हो नहीं हिंसा कभी ॥
समझो निरर्थक है अहिंसा है न संयमरूपिणी ।
है प्रेम की सद्भावना से शून्य वह निरपेक्षिणी ॥३७॥

कापटिकी--अहिंसा

होती अहिंसा घोर हिंसा--रूप कापटिकी यहां ।
बाहर अहिंसा है मगर भीतर भरी हिंसा जहां ॥
'मर जाय' इस दुर्भाव से होता जहां रक्षण नहीं ।
बनते वहांन सैकड़ों छलपूर्ण कापटिकी वहीं ॥३८॥

स्वार्थजा--अहिंसा

यह स्वार्थजा भी है अहिंसा स्वार्थ जिसका मूल है ।
पर-प्राण-रक्षण भी जहां पर स्वार्थ के अनुकूल है ॥
जग पालतू पशु आदि की करता इसीसे है दया ।
कैसे चलेगा काम यदि धनरूप यह पशु मर गया ॥३९॥

मोहजा--अहिंसा

होती अहिंसा मोहजा भी जो कि है स्वाभाविकी ।
घरघर भरी रहती यही जिस पर सभी दुनिया विकी ।
है मनुजकी तो बात क्या पशुपक्षियों में भी रही ।
सन्तान-वत्सलता इसी की मूर्ति है अनुपम कही ॥४०॥

मित्रत्व में भ्रातृत्व में दाम्पत्य में भी यह रहे ।
नाते यहां जितने बने सबमें यही धारा बहे ॥
जितना रहे अविवेक उतनी ही रहे दुखकारिणी ।
यह मोहजा व्यापक अहिंसा है विवेक–निवारिणी ॥४१॥
मन में रहा अविवेक फिर इसके अगर पाले पड़े ।
कर्तव्य से चूके गिरे पथ में न रह पाये खड़े ॥
जो है विवेकी मोहजा के पाश में न समायगा ।
कर्तव्य में तत्पर रहेगा कर्मयोग बतायगा ॥४२॥
सचमुच अहिंसा ही कसौटी है सकल सत्कर्म की ।
रहती अहिंसा है जहां सत्ता वहीं है धर्म की ॥
पर बाहिरी हिंसा अहिंसा से न निर्णय कर कभी ।
होती अहिंसा बाह्य-हिंसा-रूप भी मत डर कभी ॥४३॥
कल्याण जिस में विश्वका हो और हो निःस्वार्थता ।
फिर हो अहिंसा या कि हिंसा पापका न वहां पता ॥
है मोहजा तेरी अहिंसा मूल में न विवेक है ।
वह है नहीं सच्ची अहिंसा मोहका अतिरेक है ॥४४॥
तू छोड़ यह जड़ता तथा यह मोह माया छोड़ दे ।
बन जा विवेकी रूढ़ि का जंजाल सारा तोड़ दे ॥
निर्णय सभी सापेक्ष हैं अन्याय हरने के लिये ।
अब तू उठा गांडीव यह कर्तव्य करने के लिये ॥४५॥
[२९३]



आठवाँ अध्याय



अर्जुन—   (हरिगीतिका)

कर्तव्य में कैसे करूं जब बढ़ रहा जंजाल है ।
ज्यों ज्यों सिखाते हो मुझे त्यों त्यों बिगड़ता हाल है ॥
हिंसा अहिंसा में अगर व्यतिकर यहां हो जायगा ।
माधव, कहो संसार में तब सत्य क्या रहपायगा ॥१॥

हिंसा अहिंसा भी अगर सापेक्ष हैं तब धर्म क्या ।
निश्चित बता दो बात मुझको सत्यमय है कर्म क्या ॥
हिंसा अहिंसा हो, अहिंसा है। अगर हिंसा यहां ।
सापेक्ष जब होगी अहिंसा सत्य तब होगा कहां ॥२॥

है सत्य ही निर्णय-निकष कर्तव्य की या धर्म की ।
जो सत्यसे निश्चित न हो फिर क्या कथा उस कर्मकी ॥
सापेक्षता का हो जहां चाञ्चल्य निर्णय क्या वहां ।
निर्णय नहीं तो सत्यकी आभा दिखा सकती कहां ॥३॥

है सत्य निश्चित एकसा होता न डावाँडोल है ।
होता न डावाँडोल जो जग मे उसीका मोल है ॥
हिंसा रहे हिंसा अहिंसा भी अहिंसा सब कहीं ।
निरपेक्ष निश्चय हो जहां बस सत्य भी होता वहीं ॥४॥

श्रीकृष्ण— गीत १८

करके विचार तूने सचका पता न पाया ।
होती जहां अहिंसा सच भी वहीं समाया ॥ कर....॥५॥
कल्याणरूप ही हैं सब धर्म कर्म जगके ।
कल्याण का विरोधी है सत्यकी न आया ॥ करके....॥६॥
कल्याण-कारणों में सापेक्षता भरी जब ।
तब क्यों न धर्म भी हो सापेक्ष रूप गाया ॥ करके....॥७॥
सापेक्ष है अहिंसा सापेक्ष सत्य भी है ।
सापेक्ष सब जगत है निरपेक्ष भ्रम बनाया ॥ करके....॥८॥
मत मान तथ्यको ही सर्वत्र सत्यरूपी ।
होता असत्य भी वह सुखकर न जो कहाया ॥ करके....॥९॥
समझा अतथ्य को क्यों हरदम असत्यरूपी ।
होता अतथ्य भी सच कल्याणकर बनाया ॥ करके....॥१०॥
कल्याण की अपेक्षा निर्णय सभी करेंगे ।
निरपेक्ष व्यर्थ ही है वह है असत्य माया ॥ करके....॥११॥

दोहा

जिस प्रकार सापेक्ष है परम अहिंसा धर्म ।
उस प्रकार है सत्य भी समझ धर्म का मर्म ॥१२॥
तथ्य सत्य में भेद है सत्य करे कल्याण ।
तथ्य बताता वस्तु है हो कि न हो जन-त्राण ॥१३॥
अगर विश्वहित हो नहीं तो अपथ्य है तथ्य ।
विश्व-हितंकर हो अगर तो अतथ्य भी पथ्य ॥१४॥

सत्य रहे सापेक्ष यों तो क्या इससे हानि ।
जब निश्चित सापेक्षता होती है सुख-खानि ॥१५॥
संशय वहां न रह सके हृदय न डावाँडोल ।
जहां रहे सापेक्षता निश्चित और अलोल ॥१६॥
'अमुक अपेक्षा से अमुक दुखकर या सुख-खानि'
ऐसे निश्चय से सदा होती संशय-हानि ॥१७॥
निश्चय होना चाहिये हो कर्तव्य-प्रकाश ।
कभी अपेक्षासे नहीं होता निश्चय-नाश ॥१८॥
यदि विवेक हो तो सदा निश्चित होता कार्य ।
यदि विवेक मनमें न हो तो भ्रम है अनिवार्य ॥१९॥
रख विवेक मनमें सदा समझ अहिंसा सत्य ।
है विवेक के राज्य में अतिदुर्लभ दौर्गत्य ॥२०॥
सत्यासत्य-स्वरूप है तथ्य अनेक प्रकार ।
सदसद्रूप उसी तरह है अतथ्य-परिवार ॥२१॥

(ललितपद)

तथ्य चारविध कहा, प्रथम विश्वास-प्रवर्धक भाई ।
शोधक पापोत्तेजक निंदक इनमें दो सुखदाई ॥
पहिले सत्य-स्वरूप और अंतिम दो मिथ्या वाणी ।
जीवन की लहलही लतापर दोनों तीक्ष्ण कृपाणी ॥२२॥

विश्वास-वर्धक तथ्य

जो हो जितना ज्ञात उसे उतना ही ज्ञात बताना ।
व्यर्थ कल्पनाओं से झूठीं बातें नहीं सुनाना ॥

स्वार्थ रहे या जाय तथ्य का नाश न होने पावे ।
मुख से निकला वचन चित्र अन्तस्तल का बतलावे ॥२३॥
मन तन वाणी में न विविधता हो न ज़रा भी माया।
हो अतथ्य का लेश नहीं यह परम-सत्य बतलाया ।
प्रथम भेद विश्वास-प्रवर्धक जिस पर जग चलता है।
है विश्वास-पिता अतिनिश्चल जो न कभी ढलता है ॥२४॥

शोधक तथ्य

प्रेमभाव से शुद्ध चित्त से पर के दोष दिखाना ।
'हो सुधार इसका' ऐसे ही भाव हृदय में लाना ।
वाणी कोमल या कठोर हो पर न कठिन मन होवे ।
रहे पूर्ण वात्सल्य, हितैषी बन, सारा मल धोवे ॥२५॥
प्यारे जनका या समाज का यों संशोधन करना ।
पर मनमें अभिमान न लाना मान न पर का हरना ।
विनयी होकर दृढ़हृदयी जो परको सुपथ बताता ।
उसका तथ्य मधुर या कटु सब शोधक तथ्य कहाता ॥२६॥

पापोत्तेजक तथ्य

घटना तथ्य-पूर्ण हो लेकिन दुराचार फैलावे।
दिखलाती हो पाप-विजय दुष्पथ में मन ललचावे ।
जैसे द्यूत आदि पापों से बना अमुक धनवाला ।
तो यह तथ्य असत्य रूप है पड़ा पाप से पाला ॥२७॥
वर्तमानमें ये घटनाएँ तथ्य रूप पाती हैं ।
पर त्रैकालिक परम तथ्य की बाधक बन जाती हैं ।

इनको सत्य समझ कर मानव बनता स्वार्थी कामी ।
पापोत्तेजक तथ्य इसीसे है असत्य-अनुगामी ॥२८॥

निंदक तथ्य

बात ठीक है किन्तु हमारा आशय हो पर-निंदा ।
अपनी शेखी मार दूसरों को करना शरमिंदा ।
गाली आदि कटुक वचनों के भीतर प्रेम न होवे ।
हो न सुधार भावना सच्ची, समता सीमा खोवे ॥२९॥

अविवेकी अति क्रोधी मानी स्वार्थी बनकर बकना ।
वाणी की संयमता खोकर नाना तरह थिरकना ॥
कितना भी हो तथ्य किन्तु वह है जगको दुखकारी ।
निंदक तथ्य इसीसे कहलाता असत्य-सहचारी ॥३०॥

हो वैज्ञानिक खोज या कि संशोधन बात अलग है ।
प्रिय अप्रिय हो शुद्ध ज्ञान से बढ़ता सारा जग है ।
आज नहीं तो कल सुतथ्यका फल अच्छा दिखलाता ।
इसीलिये विज्ञान तथ्य के पथ में बढ़ता जाता ॥३१॥

वैज्ञानिक-विचारणाएँ जो तथ्य हमें बतलावें ।
उससे सत्य-पंथ निर्मित कर उस पर जगत चलावें ।
पर नय पथ में तथ्य नाम से वस्तु न बाधा डाले ।
तथ्य सत्य का अनुचर होकर जगका श्रेय सँभाले ॥३२॥

अतथ्य के छः भेद—(दोहा)

है अतथ्य षड्विध कहा अन्तिम चारों सत्य ।
दोनों प्रथम असत्य हैं है जिन में दौर्गत्य ॥३३॥

वंचक निंदक युगल यह है असत्य भंडार।
पर-पीड़क झूठे वचन दोनों दुखद अपार ॥३४॥

पुण्योत्तेजक स्व पर का रक्षक और विनोद।
हैं अतथ्यमय किन्तु ये रहे सत्यकी गोद ॥३५॥

वंचक अतथ्य

जहाँ वंचना जगत की नित झूठा व्यवहार।
विश्वासों का घात हो फैला मायाचार ॥३६॥

स्वार्थ करें तांडव जहाँ ठगकर पर की हानि।
है अतथ्य वंचक वहां परम पाप की खानि ॥३७॥

निंदक अतथ्य

तिरस्कार का भाव हो रहे क्रोध अभिमान।
है अतथ्य निंदक जहां गाली आदि प्रदान ॥३८॥

पुण्योत्तेजक अतथ्य

नीति सिखावें जगत को ऐसे कथा-प्रसंग।
तथ्यहीन भी हों मगर कहे सत्य के अंग ॥३९॥

इसी तरह भूवृत्त या स्वर्ग-नरक की बात।
तथ्यहीन हो पर नहीं करे सत्य का घात ॥४०॥

वहीं सत्यका घात है जहां नीति का घात।
नीति और समभाव की वर्धक सच्ची बात ॥४१॥

सत्पथ में जो दृढ़ करे दूर करे दौर्गत्य।
तथ्यहीन हो पर कहा पुण्योत्तेजक सत्य ॥४२॥

किन्तु करे विश्राम या श्रद्धा को जो चूर।
बुद्धि-असंगत बात वह रहे सर्वदा दूर ॥४३॥
पुण्योत्तेजक सत्य में जितना होगा तथ्य।
उतना ही होगा अधिक वह जीवन को पथ्य ॥४४॥
पुण्योत्तेजक सत्य जो कहलाता है आज।
कल असत्य होता वही विकसित अगर समाज ॥४५॥
इसीलिये इस सत्य में जाग्रत रहे विवेक।
किसी तरह होने न दे अतथ्य का अतिरेक ॥४६॥

स्वरक्षक अतथ्य

अपने पर करता अगर कोई अत्याचार।
डाकू लम्पट आदि यदि देते कष्ट अपार ॥४७॥
या कि युद्ध में वंचना करता हो अरिपक्ष।
तो अतथ्य भी क्षम्य है निजरक्षण में दक्ष ॥४८॥
किंतु विपक्षी से अधिक हो अपना अपराध।
फिर अतथ्य व्यवहार हो तो है पाप अगाध ॥४९॥
निज-रक्षण के नाम से अनुचित कथा-प्रसंग।
कभी क्षम्य होंगे नहीं वे असत्य के अंग ॥५०॥
अपने न्याय्य रहस्य को यदि रखना हो गुप्त।
तो अतथ्य व्यवहार से सत्य न होता लुप्त ॥५१॥

पर--रक्षक अतथ्य

निज-रक्षक की तरह है पर-रक्षक का रूप।
नीति सदा सुखरूप है है अनीति दुखरूप ॥५२॥

जग पर अत्याचार हो उनको करने नष्ट ।
हो अतथ्य व्यवहार वह है न सत्य से भ्रष्ट ॥५३॥

विनोदी अतथ्य

वंचकता मन में न हो और न ईर्ष्याभाव ।
प्रेम भक्ति वात्सल्य हो हो न स्वार्थ का दाव ॥५४॥
प्रेम प्रकट हो और हो, प्राप्त सभी को मोद ।
तो अतथ्य भी सत्य है जहां विशुद्ध विनोद ॥५५॥

[ललित पद]

सत्यासत्य अतथ्य-तथ्यका भेद समझ ले भाई ।
पूर्ण सत्य अज्ञेय, ज्ञेय में विविध अपेक्षा आई ।
जहां अहिंसा वहीं सत्य भी अपना सदन बनाता ।
जहां सत्य प्रभु हो विराजता वहीं अहिंसा माता ॥५६॥
जहां न्याय की रक्षा होती वहीं सत्य आता है ।
जहां सत्य है वहीं अहिंसा को मनुष्य पाता है ।
ये दोनों ही धर्म-सार हैं हैं घट घट के वासी ।
उन्हें समझ, कर्तव्य-पंथमें बढ़ चल छोड़ उदासी ॥५७॥



नवमाँ अध्याय



अर्जुन— दोहा

माधव क्या सापेक्ष है यह सारा जंजाल ।
ध्रुव भी है अध्रुव यहां विकट काल की चाल ॥१॥

गीत १९

जगकी कैसी अजब कहानी ।
सब चंचल हैं पर इसकी चंचलता किसने जानी ॥२॥
चंचल अनल अनिल भी चंचल चंचल है थल पानी ।
रवि शशि तारागण भी चंचल सब में खींचातानी ॥
जगकी कैसी अजब कहानी ॥३॥

निबल सबल निर्धन चंचल हैं चंचल राजा रानी ।
वैभव की थिरता तो जग में कौड़ी मोल बिकानी ॥
जगकी कैसी अजब कहानी ॥४॥

खाली आते खाली जाते कृपण धनेश्वर दानी ।
फिर भी खींचातानी दुनिया कैसी है दीवानी ॥
जगकी कैसी अजब कहानी ॥५॥

मिली अचंचल वस्तु न कोई कण कण दुनिया छानी ।
फिर भी यह धोखे की टट्टी किस किसने पहिचानी ॥
जगकी कैसी अजब कहानी ॥६॥

रोला

मुझको हैं स्वीकार जगत चंचल है सारा ।
आता जाता वहे यथा सरिता की धारा ॥
लेकिन धारा का न अगर हो अटल किनारा ।
तो धारा क्या वहे वहे जल मारा मारा ॥७॥

सह सकता हूँ अगर जगत चंचल है सारा ।
किन्तु अटल हो धर्म दिशा-सूचक ध्रुवतारा ।
सत्य अहिंसा रूप धर्म भी यदि चंचल है ।
अपरिग्रह शीलादि धर्म में फिर क्या बल है ॥८॥

यदि ये जगदाधार धर्म भी अटल न होंगे ।
तब सब जगमें पुण्यपाप भी सफल न होंगे ।
चोरी या व्यभिचार करेगा मानव जब जब ।
कह देगा 'सापेक्ष धर्म यह पाप न' तब तब ॥९॥

तब पापी को भीति पाप की रह न सकेगी ।
बढ़ जावेगा पाप त्रिलोकी सह न सकेगी ॥
चोरों को सापेक्ष कहोगे माधव कैसे ।
व्यभिचारी का छद्म सहोगे माधव कैसे ॥१०॥

तब मन-चाहे पाप जगत में रम्य बनेंगे ।
दुर्योधन के दुष्ट-चरित भी क्षम्य बनेंगे ।
दुःशासन निर्दोष बनेगा गर्ज गर्ज कर ।
पुण्य दबेगा और पाप गर्जेगा घर घर ॥११॥

पुण्य पाप का भेद दिखाओ मार्ग सुझाओ ।
कर्तव्याकर्तव्य कसौटी कर दिखलाओ ॥
सत्य अहिंसा रहें रहें सब धर्म अचंचल ।
निःसंशय हो धर्म न्याय का बल ही हो बल ॥१२॥

श्रीकृष्ण— गीत २०

यह मोह कहां से आया ।
साफ़ साफ़ बातें थीं मेरी तूने जाल बनाया ।
यह मोह कहां से आया ॥१३॥

सत्य अहिंसा ब्रह्म अचंचल चंचल उसकी छाया ।
ब्रह्म अगम्य अगोचर भाई गोचर उसकी माया ॥
यह मोह कहां से आया ॥१४॥

उसी ब्रह्म की छाया से ही धर्म विविध बन आया ।
इसीलिये सापेक्ष रूप में विविध धर्म बतलाया ॥
यह मोह कहां से आया ॥१५॥

होता जो सापेक्ष, नहीं वह संशय रूप-कहाया ।
समझ, अगम्य ब्रह्मनें अपना गम्यरूप दिखलाया ॥
यह मोह कहां से आया ॥१६॥

[ललितपद]

जब हैं सत्य अहिंसा निश्चल सकल धर्म निश्चल हैं ।
शील अचौर्य असंग्रह आदिक इन दोनों के दल हैं ॥
हिंसा और असत्य विना चोरीका पाप न होता ।
इन दोनों के बिना जगत में कोई ताप न होता ॥१७॥

चौर्य कार्य में परधन—रूपी प्राण हरे जाते हैं।
विना असत्य वचन के बोले चोर न वन पाते हैं ॥
इसीलिये है चौर्यकार्य हिंसा असत्य की छाया।
तभी इसे हिंसा असत्यके अन्तर्गत वतलाया ॥१८॥

जिसने झूठ बोलना छोड़ा उसने चोरी छोड़ी।
हिंसा छोड़ चला जो कोई छोड़ी यह सिरफोड़ी ॥
मनमें दया वसी चोरीने रिश्तेदारी तोड़ी।
कैसे रहे निगोड़ी जव है सत्य अहिंसा जोड़ी ॥१९॥

दोहा

यों अचौर्य व्रत है कहा सत्य-अहिंसा-अंश।
है अचौर्य्य के अंश में सत्य-अहिंसा-अंश ॥२०॥

त्यों अपरिग्रह भी कहा सत्य-अहिंसा-अंश।
जहां परिग्रह है वहां सत्य-अहिंसा-भ्रंश ॥२१॥

सामाजिक सम्पत्ति के हिस्से के अनुसार।
अगर मिली सम्पत्ति तो हुआ न पापाचार ॥२२॥

जो जनसेवा के लिये हो उपकरण—कलाप।
उसका यदि संग्रह किया तो न परिग्रह पाप ॥२३॥

पर मालिक वनना नहीं मालिक सकल समाज।
तू सेवक ही है सदा भले मिला हो ताज ॥२४॥

जो सेवकता भूल कर जोड़े वहुविध अर्थ।
करता विविध अनर्थ वह उसका जीवन व्यर्थ ॥२५॥

धन—संग्रह कर मत कभी कर प्रदान या भोग।
किन्तु भोग सीमित रहें बसे न तन में रोग ॥२६॥
सेवा देकर कर सदा सेवा का आदान।
धन लेकर संग्रह किया बनी पापकी खान ॥२७॥
अथवा बदला छोड़कर ले अक्षय भंडार।
यश अनंत मिल जायगा होगा पुण्य अपार ॥२८॥
धन वितरण के ध्येय में संग्रह है परिहार्य।
फिर भी जो संग्रह किया तो असत्य अनिवार्य ॥२९॥
जितना ही संग्रह हुआ उतनी पर की हानि।
कहा परिग्रह इसलिये हिंसामय दुख—खानि ॥३०॥
एक तरह का चौर्य है नरनारी—व्यभिचार।
हिंसा और असत्यमय है वह पापाचार ॥३१॥
फैले हैं संसार में अगणित पापाचार।
हिंसा और असत्य ही हैं सब के आधार ॥३२॥
सबके निर्णय के लिये सच्चा शास्त्र विवेक।
मध्यम पथ पर चल सदा हो न कहीं अतिरेक ॥३३॥
केवल बाह्याचार में, है न पुण्य या पाप।
पुण्य पाप मनमें बसा दिखता अपने आप ॥३४॥
वैभव में भी योग है यदि न अन्ध—अनुराग।
नीरज नीरज नीर में करें नीर का त्याग ॥३५॥
लाखोंकी सम्पत्ति हो फिर भी रहे न मोह।
तन तो मन्दिर में रहे मन मन्दर की खोह ॥३६॥

हो विभूति मय सदन तन, तनपर हो न-विभूति।
मन पर चढ़ी विभूति हो तो है योग–प्रसूति ॥३७॥
राख रमाई क्या हुआ मनपर चढ़ी न राख।
तन पर रहा न एक पर मनपर सौ सौ लाख ॥३८॥
देह दिगंबर हो गई मनपर मनभर सूत।
बुनकर बन बैठा वहां मोह पाप का दूत ॥३९॥
माला लेकर हाथ में बन बैन ज्ञानी धूल।
पर मन भवनों में रहा माला के मणि भूल ॥४०॥
तनका तो आसन जमा मन के कटे न पाँख।
बगुला तो ध्यानी बना पर मछली पर आँख ॥४१॥
रहे परिग्रह या रहे चोरी या व्यभिचार।
बाहर ही को देखकर मत निकाल कुछ सार ॥४२॥
घर छोड़ा बनवन फिरा कर घिनावनी देह।
मृगनयनी मनमें मगर मन मनोज का गेह ॥४३॥
पलक मींच करने चला मूढ़ योग की पूर्ति।
चपलासी चमकी मगर मृगनयनी की मूर्त्ति ॥४४॥
तम में भी छिपछिप दिखे मन–मोहिनी शरीर।
मानों दमके दामिनी अन्धकार को चीर ॥४५॥
बहुत तपस्याएँ हुईं कसकर बँधा लँगोट।
सह न सका पर एक भी मकर-ध्वज की चोट ॥४६॥
जब तक मन वश में नहीं तबतक कैसा त्याग।
भीतर ही भीतर जले विकट अवा की आग ॥४७॥

मनं यदि वश में हो गया तो घर में भी योग ।
मन यदि नचता ही रहा तो वनमें भी भोग ॥४८॥
नारी उसे न कामिनी जिस का हृदय पवित्र ।
जीवन नौका के लिये है सहयोगी मित्र ॥४९॥
वहां विषमता है जहां प्रति–क्रिया है पार्थ ।
योगी के समरूप हैं चारों ही पुरुषार्थ ॥५०॥
भोग योग को समझ तू करले भीतर दृष्टि ।
छलनामय करदी यहां मानव ने सब सृष्टि ॥५१॥
चोरों की तो क्या कथा साहुकार भी चोर ।
'मुँह में राम छुरी बगल' छलना चारों ओर ॥५२॥
क्या हिंसा करुणा यहां क्या सदसद्यवहार ।
क्या चोरी ईमान क्या शील और व्यभिचार ॥५३॥
कौन परिग्रह में फँसा कौन यहां निर्ग्रंथ ।
अन्तर्दृष्टि बिना यहां उलझे सारे पंथ ॥५४॥
सब कुछ है सापेक्ष पर रख विवेक का साथ ।
संशय सब उड़ जायगा निश्चय तेरे हाथ ॥५५॥

हरिगीतिका

कर्तव्य-निर्णय में विवेकी बन कुसंशय छोड़ दे ।
बाहर तथा भीतर निरख छलजाल सारा तोड़ दे ॥
कर्तव्य-पथ आगे पड़ा, बढ़, मोह का मुँह मोड़ दे ।
जो भर रहा चिरकाल से वह पाप का घट फोड़ दे ॥५६॥

४०६

अध्याय दसवाँ



अर्जुन— गीत २१

तुम्हारा अद्‌भुत अन्तर्ज्ञान ।
जगत है देख देख हैरान ॥
चक्र सुदर्शन छोड़ा तुमने आये खाली हाथ ।
ज्ञान चक्रसे बना दिया पर मुझको निर्भय नाथ ॥
किया कायरता का अवसान ।
तुम्हारा अद्‌भुत अन्तर्ज्ञान ॥१॥

सत्यासत्य अहिंसा हिंसा के बतलाये भेद ।
ऐसा रस दे दिया निचोड़े मानों सारे वेद ॥
बनाया धर्म विवेक-प्रधान ।
तुम्हारा अद्‌भुत अन्तर्ज्ञान ॥२॥

उलझी से उलझी भी सुलझी करदो करुणागार ।
जीवन नैया तुम्ही खिवैया पकड़ चलो पतवार ॥
पार पहुँचादो जीवन यान ।
तुम्हारा अद्‌भुत अन्तर्ज्ञान ॥३॥

दोहा

संशय यद्यपि मर गया श्रद्धा हुई अनन्त ।
तो भी हो पाया नहीं जिज्ञासा का अन्त ॥४॥
समझी है सापेक्षता समझा है आचार ।
सत्य अहिंसा ब्रह्म हैं हैं ये जगदाधार ॥५॥
उनके निर्णय के लिये तुमने कहा विवेक ।
पर विवेक कैसे करूं हो न कहीं अतिरेक ॥६॥
एक दूसरे में जहां दीखें मुझे विरोध ।
हो कैसे निर्णय वहां परम सत्य की शोध ॥७॥
कहो निकष वह कौन है बने विवेकाधार ।
जिसको पाकर मैं करूं संशय-सागर-पार ॥८॥

श्रीकृष्ण—

होते जितने कार्य हैं वे सब सुख के अर्थ ।
जिससे मिल सकता न सुख, कहलाता वह व्यर्थ ॥९॥
करता है संसार यह निशिदिन सुख की खोज ।
होता है सुखके मिले विकसित वदन-सरोज ॥१०॥
धन विद्या सौन्दर्य बल नाम और अधिकार ।
कुल कुटुम्ब सुख के लिये ढूंढ़ रहा संसार ॥११॥
चैन नहीं है चैन बिन ज्यों ही हुआ प्रभात ।
त्यों ही भौंरा सा भ्रमे जब तक हुई न रात ॥१२॥
जग चाहे सुखके लिये मज़ा मौज़ आराम ।
और उसी आराम को जग का बने गुलाम ॥१३॥

सुख की आशा में चले टेढ़ी टेढ़ी गैल।
पराधीन भ्रमा करे ज्यों कोल्हू का बैल ॥१४॥
घर कुटुम्ब को छोड़कर चले जंगल की राह।
त्यागी बनना है जगत है बस सुख की चाह ॥१५॥
इसीलिये धन धर्म हैं इसीलिये है स्वर्ग।
इसीलिये ही काम है इसीलिये अपवर्ग ॥१६॥
है सुख पानेके लिये देवों का गुणगान।
इसीलिये जप तप बना इसीलिये भगवान ॥१७॥
आते हैं सुखके लिये तीर्थंकर अवतार।
दुनिया का उद्धार कर करते निज उद्धार ॥१८॥
जग सुखपावे या नहीं किन्तु वही है ध्येय।
अप्रमेय संसार में सुख-पथ परम प्रमेय ॥१९॥
सुख-पथ का प्रत्यक्ष कर कहलाते सर्वज्ञ।
सुख-पथ यदि जाना नहीं तो पंडित भी अज्ञ ॥२०॥
कहने का यह सार है सुख जीवन का सार।
तार तार में रम रही सुख की चाह अपार ॥२१॥
जिससे जगको सुख मिले वही कहा है धर्म।
जो सुखकर दुखहर तथा वही धर्म का मर्म ॥२२॥
परम निकष कर्तव्य की सुख-वर्धन है एक।
सुखवर्धन कर विश्व का रखकर पूर्ण विवेक ॥२३॥

अर्जुन—

यदि सुख-वर्धन ही निकष सुख–वर्धन ही ध्येय ।
सुख-वर्धन ही सार हो सुख-वर्धन ही श्रेय ॥२४॥

तव तो जगमें स्वार्थ का होगा ताण्डव नृत्य ।
मानवता मर जायगी बनी स्वार्थ की मृत्य ॥२५॥

चोरी करके चोर जन व्यभिचारी व्यभिचार ।
बोलेंगे निर्भय बने 'पाया सुख का सार' ॥२६॥

हिंसक जन भी स्वार्थवश करके हिंसा कार्य ।
कह देंगे 'यह धर्म है है सुखार्थ अनिवार्य' ॥२७॥

झूठ बोलकर भी जगत करके मायाचार ।
बोलेगा 'यह धर्म है हम को सुख–दातार' ॥२८॥

जग में सुख के नामपर होते जितने पाप ।
सभी धर्म कहालायँगे ठग अपने को आप ॥२९॥

होगा कैसे जगत में सुख–वर्धन का कार्य ।
है सुख-वर्धन के लिये दुख-वर्धन अनिवार्य ॥३०॥

सुलझ सुलझ कर उलझती गुत्थी दोनों ओर ।
ऐसी सुलझाओ सखे उलझे कभी न डोर ॥३१॥

श्रीकृष्ण—

तूने मेरी बात का किया न पूर्ण विचार ।
इसीलिये तू बन गया प्रबल संशयागार ॥३२॥

यदि अणुभर सुख पा गया पर दुख मेरु समान ।
तो सुख-वर्धन क्या हुआ लाभ बना नुकसान ॥३३॥
मुझको अणुभर सुख मिला जगको मनभर कष्ट ।
तो सुखवर्धन क्या हुआ शान्ति हुई सब नष्ट ॥३४॥
हिंसा चोरी झूठ हो अथवा हो व्यभिचार ।
सुख से दुख अगणित-गुणा देता पापाचार ॥३५॥
इस सामूहिक दृष्टि से देख पाप के कार्य ।
है सुख-वर्धन के लिये पाप-त्याग अनिवार्य ॥३६॥
अपने में ही भूल मत रख सब जग पर दृष्टि ।
फिर यदि सुख-वर्धन हुआ हुई धर्म की सृष्टि ॥३७॥

अर्जुन—

माधव जब सुख ध्येय तब पर का कौन विचार ।
आप भला तो जग भला भले मरे संसार ॥३८॥
पर-हित पर क्यों दृष्टि हो अपने हित को भूल ।
वही देखना चाहिये जो अपने अनुकूल ॥३९॥

श्रीकृष्ण— गीत २२

जगत-हित में अपना कल्याण ।
यदि तू करता त्राण न जग का तेरा कैसा त्राण ।
जगत-हित में अपना कल्याण ॥४०॥

'पर' तुझको पर है पर तू भी 'पर' को है पररूप ।
सब 'पर' यदि भूलें पर को तो डूबें सब दुखकूप ॥

प्राण कर दें पर-लोक-प्रयाण ।
जगत-हित में अपना कल्याण ॥४१॥

अपना अपना स्वार्थ तके सब भूलें पर का स्वार्थ ।
अपना डूबे पर का डूबे सकल स्वार्थ परमार्थ ॥
अकेले तड़पें सबके प्राण ।
जगत-हित में अपना कल्याण ॥४२॥

सब का स्वार्थ एक है जग में ब्रह्म भरा है एक ।
उसने पाई मुक्ति जिसे हो एक-अनेक-विवेक ॥
यही सब गाते वेद पुराण ।
जगत-हित में अपना कल्याण ॥४३॥

जितना जग में कामसुख वह परके आधीन ।
क्षण भी पर को भूल मत बन मत प्रेम-विहीन ॥४४॥
क्या देना है जगत को यदि है यही विचार ।
तो लेना भी छोड़ दे मत बन भू का भार ॥४५॥

अर्जुन—

लेना देना छोड़ कर क्यों न लगाऊं ध्यान ।
क्यों जग की चिंता करूं चिन्ता चिता समान ॥४६॥

श्रीकृष्ण—

यदि कुछ भी लेना नहीं, मत ले, पर कर दान ।
लिया आजतक बहुत ऋण कर उसका अवसान ॥४७॥
लिया नहीं लेता नहीं और न लेगा कार्य ।
ऐसा मनुज अशक्य है लेना है अनिवार्य ॥४८॥

अर्जुन—

जिससे लें उसके लिये करदें हम प्रतिदान।
व्यर्थ मरें जगके लिये यह तो है अज्ञान ॥४९॥

श्रीकृष्ण—

जग भी यदि यों सोचले तुझको देगा कौन।
घर घर लेने जायगा पर पायेगा मौन ॥५०॥
प्रथम दान का विश्व में यदि हो नहीं प्रचार।
फले स्वार्थ भी किस जगह जब न मिले आधार ॥५१॥
लिया किसी से भी रहे कर जगको प्रतिदान।
गौण व्यक्ति सम्बन्ध है रख समाज का ध्यान ॥५२॥
मात पिता से ऋण लिया है उनका उपकार।
संतति के प्रतिदान से होता प्रत्युपकार ॥५३॥
सब से तू आदान कर सब ही को कर दान।
होता प्राणि-समाज में सब का पर्यवसान ॥५४॥
भेदभाव को छोड़कर देख सभी का स्वार्थ।
जो कुछ सब का स्वार्थ है तेरा है परमार्थ ॥५५॥
कम से कम ले किन्तु कर अधिक-अधिक प्रतिदान।
इसी साधुता में बसे, मुक्ति, भुक्ति, भगवान ॥५६॥
जहां साधुता है वहां होता सब का त्राण।
सब जग का कल्याण है तेरा भी कल्याण ॥५७॥
सब जगको सुखमय बना हट जायेंगे पाप।
यही कसौटी धर्म की सत्कर्तव्य-कलाप ॥५८॥

अर्जुन—

कैसे सुलझेगा सखे सुख-दुख का जंजाल।
जीवन है जो एक का वही अन्य का काल ॥५९॥
चोरी करते चोर हैं उन्हें न दूं यदि दंड।
तो पीड़ित हो जाय जग फैले पाप प्रचंड ॥६०॥
यदि चोरों को दंड दूं तो हो उनको कष्ट।
सुखवर्धन कैसे हुआ धर्म हुआ तब नष्ट ॥६१॥
चोर जगत का अंग है हो यदि उसको कष्ट।
तो जग सुखमय क्या हुआ यत्न हुए सब नष्ट ॥६२॥
सुख होता इस ओर जब दुःख दूसरी ओर।
तब निर्णय कैसे बने, है कर्तव्य कठोर ॥६३॥

श्रीकृष्ण—

जो दुख से सुख दे अधिक वही समझ सत्कार्य।
इसके निर्णय के लिये है विवेक अनिवार्य ॥६४॥
दुख-सुख-निर्णय की तुला आत्मौपम्य विचार।
पर को समझा आत्मसम मिला ज्ञान का सार ॥६५॥
चोरी करता चोर पर चोरी सहे न चोर।
चोरों के घर चोर हों चोर मचावें शोर ॥६६॥
पापी करते पाप हैं मगर न चाहें पाप।
पापी पर यदि पाप हो तो उसको भी ताप ॥६७॥
अपने को जो है बुरा पर को भी वह जान।
थोड़े शब्दों में कही पुण्य-पाप-पहचान ॥६८॥

सुख भी हो यदि पाप से तो सुख पाता एक ।
किन्तु पापके ताप से जलते जीव अनेक ॥६९॥

सुखी बनें जग में बहुत दुखी न्यून से न्यून ।
काँटों के दुख से अधिक सुख दे सकें प्रसून ॥७०॥

ऐसा ही कर्तव्य कर हो बहुजन को इष्ट ।
इसकी चिन्ता कर नहीं पापी हो यदि क्लिष्ट ॥७१॥

अर्जुन—

बहुजन का यदि हित करूं तो भी है अन्धेर ।
विजय पाप ही पायगा पापी जग में ढेर ॥७२॥

रावण का दल था बहुत यद्यपि था दुष्कर्म ।
होती यदि उसकी विजय तो क्या होता धर्म ॥७३॥

दुर्योधन-दल है बहुत पाण्डव-दल है अल्प ।
दुर्योधन की जीत में क्या है पुण्य अनल्प ॥७४॥

श्रीकृष्ण—

एक जगह ही देख मत चारों ओर निहार ।
अपरिमेय संसार है, अपनी दृष्टि पसार ॥७५॥

वर्तमान ही देख मत जो क्षण हैं दो चार ।
कर तू निर्णय के लिये भूत-भविष्य-विचार ॥७६॥

सार्वत्रिक पर डाल तू सार्वकालिकी दृष्टि ।
सत्य तुझे मिल जायगा होगी निर्णय-सृष्टि ॥७७॥

रावण की यदि जीत हो रामचन्द्र की हार ।
तो घर-घर रावण बने डूब जाय संसार ॥७८॥

होती रावण की विजय तो घर–घर व्यभिचार ।
करता ताण्डव रात दिन मिट जाते घरवार ॥७९॥
परिमित रावण-दल मरा हुआ पाप का अन्त ।
अगणित सीताएँ बचीं फूला पुण्य–वसन्त ॥८०॥
कौरव-दल यद्यपि बहुत पर उसकी जो नीति ।
वह यदि जीते जगत में फैले घर घर भीति ॥८१॥
कौरव से लाखों गुणा जनता को हो कष्ट ।
घर घर हाहाकार हो विश्व–शान्ति हो नष्ट ॥८२॥
कितनी द्रौपदियाँ पिसें खिंचें हज़ारों चीर ।
भाई को भाई न दे चुल्लूभर भी नीर ॥८३॥
स्वार्थी नीच असभ्य–जन भर डालें संसार ।
घर घर में बैठे यहां पशुता पैर पसार ॥८४॥
पाण्डव की या राम की जय से जगदुद्धार ।
रक्षण हो संसार का पापों का संहार ॥८५॥
बचे सभ्यता का सदन साफ़ रहे घर द्वार ।
पापों का कचरा हटे स्वच्छ बने संसार ॥८६॥
रामविजय से हो सका अगिकों का कल्याण ।
सीताजी के त्राण में था नारीका त्राण ॥८७॥
सीताजी के त्राण से बचा अर्ध-संसार ।
रावण के संहार से हुआ पाप–संहार ॥८८॥
दम्पति–धर्म रहा वहां रहा अकंटक प्यार ।
सब नाते फूले फले हुए मंगलाचार ॥८९॥

पाण्डव-दल की विजय में है नारी-सन्मान ।
नारी के सन्मान में पशुता का अवसान ॥९०॥
पुत्र-मोह-तांडव मिटे सज्जन ठगा न जाय ।
धर्मराज की जीत से विजयवन्त हो न्याय ॥९१॥
वर्तमान ही देख मत भूत-भविष्य-विचार ।
फिर अपना कर्तव्य कर कर सुखमय संसार ॥९२॥

[हरिगीतिका]

कर्तव्य-निर्णय की निकष कसले तुझे जो मिल गई ।
श्रद्धा सुरक्षित कर यहां संदेह से जो हिल गई ॥
श्रद्धालु ज्ञानी दृढ़ मनस्वी बन, न बन पर क्लीब तू ।
कर्तव्य-पथ आगे पड़ा है चल उठा गांडीव तू ॥९३॥
[४९९]



ग्यारहवाँ अध्याय



अर्जुन— (ललितपद)

माधव जो कर्तव्य–कसौटी तुमने मुझे बताई ।
साथ साथ सदसद्विवेक की महिमा तुमने गाई ॥
यह अमूल्य सन्देश तुम्हारा पंडित–जनको प्यारा ।
प्यासे को पीयूष पिलाया ज्यों मरु को जलधारा ॥१॥
भरता पेट नहीं भरता मन 'जितना पीता जाऊं–
उतना और मिले' मन कहता जीवनभर न अघाऊं ॥
तृष्णातुर बोलो तुम मुझको अथवा मूर्ख बताओ ।
पर मेरी प्रार्थना यही है अमृत पिलाते जाओ ॥२॥
कर्तव्याकर्तव्य–कसौटी कसकर मुझे बताई ।
सुख को ध्येय बताया तुमने सुख की महिमा गाई ॥
पर बोलो सुख की परिभाषा कैसे उस को पाऊं ।
दुःख-कण्टकाकीर्ण जगत में कैसे मार्ग बनाऊं ॥३॥
सुख भीतर की वस्तु कहूँ या बाह्य ज़गत की माया ॥
दोनों सुख के रूप कौन तब उपादेय बतलाया ॥
क्या जीवन का अर्थ किसे पुरुषार्थ कहूं बतलाओ ।
क्या सुख ही पुरुषार्थ कहा है ठीक ठीक समझाओ ॥४॥

श्रीकृष्ण—

अर्जुन, मैं कह चुका जगतका परम ध्येय सुख पाना।
पर को दुखित न होने देना आप सुखी बन जाना॥
सुख मनकी अनुकूल वेदना प्राणिमात्र को प्यारी।
दुख मनकी प्रतिकूल वेदना जीवन की अँधियारी॥५॥

दुख सुख बाहर की न वस्तु है, है वह मनकी माया।
माया का रहस्य पहचाना सुख दुख वश में आया॥
सुखके साधन रहें जीव फिर भी न सुखी हो पाता।
तूल-तल्प पर पड़ा पड़ा भी जगकर रात बिताता॥६॥

नहीं भूल पर बाह्य जगत को सुख साधन न भुला तू।
और अनावश्यक कष्टों को इच्छा से न बुला तू॥
जग पर अत्याचार न करके सुख के साधन पाले।
जहां न पा सकता सुख-साधन वहां मोक्ष अपनाले॥७॥

दोहा

काम मोक्ष पुरुषार्थ हैं सारे सुख के मूल।
दोनों के संयोग से फूलें सुख के फूल॥८॥
पुरुषार्थों में मुख्य ये सब के अंतिम ध्येय।
अप्रमेय संसार में ये हैं परम प्रमेय॥९॥

काम मोक्ष सुख-मूल हैं, धर्म मोक्ष का मूल।
अर्थ काम का मूल है चारों हैं अनुकूल॥१०॥
इन्द्रिय-सुख है काम-सुख भोग और उपभोग।
परम अतीन्द्रिय मोक्ष सुख पूर्ण शुद्ध मन-योग॥११॥

मोक्ष न आया हाथ में पाया केवल काम ।
प्यास बढ़ी आतुर बना मिल न सका आराम ॥१२॥
तृप्ति न केवल काम से बुझे न पूरी प्यास ।
पूर्ण तृप्ति है मोक्ष से हटते सारे त्रास ॥१३॥
आशा-पाश अनन्त है तोड़ न सकता काम ।
पाश तोड़ना मोक्ष है सुख स्वतन्त्रता-धाम ॥१४॥
कर प्रयत्न जिससे रहे काम मोक्ष का साथ ।
जीवन का साफल्य तब होगा तेरे हाथ ॥१५॥

अर्जुन—

माधव मोक्ष यहां कहां वह अत्यन्त परोक्ष ।
जबतक यह जीवन रहे तबतक कैसा मोक्ष ॥१६॥
जीवन छूटे मोक्ष है जीवन रहते काम ।
तब जीवन कैसे बने काम मोक्ष का धाम ॥१७॥
एक हाथ में मोक्ष हो एक हाथ में काम ।
है अतथ्य यह कल्पना है यद्यपि अभिराम ॥१८॥
दो ऐसा संदेश तुम बने पूर्ण व्यवहार्य ।
केवल कवि की कल्पना पूरा करे न कार्य ॥१९॥

श्रीकृष्ण—

अर्जुन तूने मोक्ष का समझ न पाया सार ।
समझ रहा परलोक में बना मोक्ष-दर्बार ॥२०॥
पर यह तेरी कल्पना है बस मनका भार ।
ढूँढ़ यहीं मिल जायगा तुझे मोक्ष का द्वार ॥२१॥

गीत २२

समझ मत दूर मोक्ष का द्वार। यहीं है मोक्ष और संसार ॥

दुःख और सुख मन की माया।
मनने ही संसार बसाया ॥
मन को जीता दुनिया जीती हुआ दुखोदधि पार।
समझ मत दूर मोक्ष का द्वार। यहीं है मोक्ष और संसार ॥२२॥

विपदाएँ यदि सिर पर आवें।
गर्ज गर्ज कर हमें डरावें।
उन्हें देखकर मन प्रसन्न कर जैसे मिला शिकार।
समझ मत दूर मोक्ष का द्वार। यहीं है मोक्ष और संसार ॥२३॥

लुब्ध बनावें अगर प्रलोभन।
फिर भी हो न सके चंचल मन।
दुखके कारण दूर हुए तब हुई पाप की हार।
समझ मत दूर मोक्ष का द्वार। यहीं है मोक्ष और संसार ॥२४॥

जिनने विपत्प्रलोभन जीते।
वे ही परम सुखामृत पीते।
उनका सुख उनके हाथों में यही मोक्ष का सार।
समझ मत दूर मोक्ष का द्वार। यहीं है मोक्ष और संसार ॥२५॥

मरने पर पुरुषार्थ भला क्या।
मुर्दे की शृंगार कला क्या ॥
मोक्ष परम पुरुषार्थ यहीं है कर्म—योग—आधार ॥
समझ मत दूर मोक्ष का द्वार। यहीं है मोक्ष और संसार ॥२६॥

काम सुखों का अंग रहा है ॥
मोक्ष सुखों का प्राण कहा है ।
निर्विरोध हैं मिल कर होते दोनों एकाकार ॥
समझ मत दूर मोक्ष का द्वार । यहीं है मोक्ष और संसार ॥२७॥

मोक्ष सहज सौन्दर्य-धाम है ।
उसका ही शृंगार काम है ।
सहज द्विगुण होता है पाकर उचित सभ्य शृंगार ।
समझ मत दूर मोक्ष का द्वार । यहीं है मोक्ष और संसार ॥२८॥

दोहा

जीवन तब होता सफल घनानन्दमय पार्थ ।
आ जाते जब हाथ में चारों ही पुरुषार्थ ॥२९॥

अर्जुन—

घबराता मेरा हृदय होता है आघात ।
एक एक मिलना कठिन चारों की क्या बात ॥३०॥

श्रीकृष्ण—   गीत २४

पुरुषार्थ सभी तेरे हाथों में भाई ।
तू भूल रहा क्यों जीवन की चतुराई ॥
धर्मार्थ काम के साथ मोक्ष का नाता ।
चारों का है सम्मिलन जगत का त्राता ।
यदि मोक्ष नहीं है तो न पूर्ण सुखसाता ।
है मोक्ष कवच वह दुःख से न छिदपाता ।

है एक एक से आत्मा की न भलाई।
पुरुषार्थ सभी तेरे हाथों में भाई ॥३१॥
कोई धर्मी बन जीवन बोझ बनाता।
कोई है अर्थ-पिशाच लूटता खाता।
कोई कामुकता में ही जन्म गमाता।
पर इनमें कोई सुखका पता न पाता॥
दुख बनता पर्वततुल्य और सुख राई।
पुरुषार्थ सभी तेरे हाथों में भाई ॥३२॥
कोई पुरुषार्थों का न रूप भी जाने।
कोई जाने तो तत्त्व नहीं पहिचाने।
कोई पहिचाने किन्तु न मनमें ठाने।
कोई ठाने तो फिरें बने दीवाने।
आलस्य और उन्माद दिया दिखलाई।
पुरुषार्थ सभी तेरे हाथों में भाई ॥३३॥
यदि मोक्ष-तत्त्व का रूप न निर्मल देखा।
धर्मार्थ काम का मिलित नहीं दल देखा।
नकली पुरुषार्थों का न अगर छल देखा।
सारे भेदों का यदि न फलाफल देखा।
तो फिर क्या देखा करली कौन कमाई।
पुरुषार्थ सभी तेरे हाथों में भाई ॥३४॥

अर्जुन—

माधव मोक्ष यहीं मिला पूर्ण हुए सब काम।
काम अर्थ फिर किसलिये छोडूँ इनका नाम ॥३५॥

पकड़ूं केवल मोक्ष को छोड़ूँ सब जंजाल।
धर्म जाय धन जाय सब जाये काम कराल ॥३६॥
मिला मोक्ष जब हाथ में तब क्या रहा परोक्ष।
चिन्तामणि या कल्पतरु कामधेनु है मोक्ष ॥३७॥
चारों क्यों अनिवार्य हों मोक्ष रहे अनिवार्य।
मोक्ष मिला सब सुख मिले हुए पूर्ण सब कार्य ॥३८॥

श्रीकृष्ण—

तेरा कहना सत्य है मोक्ष परम कल्याण।
पर न तीन पुरुषार्थ हों तो न मोक्ष का त्राण ॥३९॥
धर्म नहीं धन भी नहीं और नहीं हो काम।
निराधार कैसे बने मोक्ष परम सुखधाम ॥४०॥
चारों ही का रूप जब तू समझेगा पार्थ।
आवश्यक होंगे तुझे चारों ही पुरुषार्थ ॥४१॥

धर्म

धर्म अहिंसा सत्यमय प्रेमरूप है धर्म।
धर्म नियन्त्रण स्वार्थ पर धर्म विश्वहित-कर्म ॥४२॥
धर्म रहा सब कुछ रहा मिटे सकल दुख द्वंद।
तब घर घर में छागया संयम का आनन्द ॥४३॥
मिली अहिंसा भगवती मिला सत्य भगवान।
ब्रह्मचर्य निःसंगता मिले अचौर्य महान ॥४४॥
सज्जनता फूली फली दुर्जनता विध्वस्त।
मिल कर आयें यम नियम पाप हुए सब अस्त ॥४५॥

साधन पाये काम के फैल गया संतोष ।
अर्थ अनर्थ न बन सका दूर हुए सब दोष ॥४६॥
धर्म प्रथम पुरुषार्थ है पुरुषार्थों का मूल ।
इसके बिना न हो सकें अर्थ-काम फल-फूल ॥४७॥
मोक्ष महल की नीव यह थोड़ी भी हिल जाय ।
बजे ईंट से ईंट सब मिट्टी में मिल जाय ॥४८॥

अर्थकाम

अर्थ काम परिमित रहें दोनों से कल्याण ।
अतिमय यदि दोनों हुए समझो निकले प्राण ॥४९॥

अर्थ

मित भी अर्थ न हो अगर तो हो अमित अनर्थ ।
अर्थ बिना जीवन नहीं अर्थ बिना सब व्यर्थ ॥५०॥
भिक्षा माँगो श्रम करो बनो जगत के दास ।
अन्न बराबर चाहिये कब तक हो उपवास ॥५१॥
खाना पीना बैठना अर्थ सभी का मूल ।
ये न रहें कब तक रहें काम मोक्ष अनुकूल ॥५२॥
काम मोक्ष प्रतिकूल जब तब दुखमय संसार ।
फिर जीवन हो किसलिये वसुन्धरा का भार ॥५३॥
गृही रहो या मुनि रहो तुम्हें चाहिये अर्थ ।
किसी रूप में क्यों न हो अर्थ नहीं है व्यर्थ ॥५४॥

काम

काम न जीवन में रहा तो जीवन बेकाम ।
फूलीफली न बल्लरी व्यर्थ हुई बदनाम ॥५५॥

काम न अतिसंभोग है काम नहीं व्यभिचार ।
सचा काम जहां रहे वहां न पापाचार ॥५६॥
परनिमित्त लेकर जहां इन्द्रिय--मन--संतोष ।
स्वपर-विरोधी हो नहीं वहीं काम निर्दोष ॥५७॥
छीन लिये यदि जगत के स्वयं--सिद्ध अधिकार ।
इंद्रिय--मन--संतोष वह होगा पापाचार ॥५८॥
अद्भुत यह संसार है यहां परस्पर भोग ।
जीवन यह कैसे टिके हो न अगर सहयोग ॥५९॥
जहां परस्पर योग है वहां परस्पर भोग ।
जहां परस्पर भोग है वहां काम का योग ॥६०॥
वह सारा सुख काम है जो 'पर' से मिल जाय ।
'पर' अपने से यों मिले हृत्तंत्री हिलजाय ॥६१॥
काम न कोई पाप है उसकी अति है पाप ।
काम-हीनता प्राण पर है जड़ता की छाप ॥६२॥
सकल कलाएँ जगत की सारे हास्य तरंग ।
अंगअंग शृङ्गार तक सकल काम के अंग ६३
क्रीड़ाएँ नानातरह नानातरह विनोद ।
सभी काम के रूप हैं जितने हैं मन-मोद ॥६४॥
भक्ति प्रेम आदर लिये फैले घर घर नाम ।
इस का भी आनन्द है एक मानसिक काम ॥६५॥
तीन भेद हैं काम के सत्त्व--रजस्तम--रूप ।
सत्त्व भला, मध्यम रजस तम पापों का कूप ॥६६॥

सात्त्विक काम

पर को दुःख न दे कभी कर न नीति का भंग।
इतने भोग न भोग तू बिगड़े तेरा अंग ॥६७॥

जिससे फट जावे हृदय ऐसा कर न विनोद।
कर ऐसा ही हास्य तू छाये मन मन मोद ॥६८॥

लूट कीर्ति की कर नहीं चल मत खोटी राह।
जितना दे उससे अधिक रख न कीर्त्ति की चाह ॥६९॥

अन्न पान परिजन शयन वस्त्र धरा धन धाम।
स्वपरविनाशक हों नहीं है यह सात्त्विक काम ॥७०॥

राजस काम

लोकनीति रक्षित रहे रक्षित रहे शरीर।
पर न जगत का ध्यान हो कैसी पर की पीर ॥७१॥

रहे अन्धस्वार्थी सदा लूटे झूठा नाम।
पर को पीड़ा हो जहाँ वह है राजस काम ॥७२॥

तामस काम

तामस काम जघन्य है प्राण--विनाशक पाश।
स्वास्थ्यनाश धननाश है कुल कुटुम्ब का नाश ॥७३

निपट क्रूरता है वहां विकट मोह का राज्य।
हम भोगे जाते जहां वह तामस-साम्राज्य ॥७४॥

तामस राजस छोड़ कर भोग सत्त्वमय काम।
साथ मोक्ष लेकर सदा बनजा तू सुखधाम ॥७५॥

सात्त्विक काम जहां जहां दे न सके आनन्द ।
वहां वहां पर मोक्ष ले दूर हटा दुखद्वंद ॥७६॥
काम मोक्ष मिल कर करें यह संसार ससार ।
जड़ता-पूजक बन न तू सार-असार विचार ॥
मोक्ष न जड़ता रूप है मोक्ष नहीं आलस्य ।
मोक्ष न है कोई नशा यह कल्याणरहस्य ॥७८॥
कवच धनुष रथ ज्या मिले तब तेरा उद्धार ।
चारों के सहचार में तेरा जयजयकार ॥७९॥

पद्मावती

ले धर्मधनुष बन अर्थरथी ज्या काममयी चढ़ जाने दे ।
तू निर्भय रह है कवच मोक्ष दुख डरवाते डरवाने दे ।
कर्तव्य निरंतर करता रह शंका को जगह न पाने दे ।
यह सब धर्मों का मर्म यहां कर्तव्य रूप में आने दे ॥८०॥
रो रही यहां पर धर्म नीति है अर्थ संकटापन्न यहां ।
धन धर्म संकटापन्न देख हो रहा काम अवसन्न यहां ॥
हो रहे सकल पुरुषार्थ व्यर्थ छाई है जड़ता की छाया ।
टंकार बजा जगपड़े विश्व उड़ जाय अधर्मों की माया ॥८१॥



बारहवाँ अध्याय



अर्जुन— [हरिगीतिका]

माधव, दयाकर सार तुमने सर्व धर्मों का कहा।
सुखका बताया मार्ग तुमने फिर भला क्या बच रहा।
फिर भी न जाने हो रहा है हृदय में यह खेद क्यों।
'सब धर्म सुख-पथ-रूप हैं फिर हैं सभी में भेद क्यों ॥१॥

कोई अहिंसा का प्रचारक है दया अवतार सा।
कोई बना हिंसा-विधायक क्रूर भू का भार सा।
कोई निवृत्ति लिये रहे वन को बनाता धाम है।
कोई प्रवृत्ति लिये रहे करता सदा सब काम है ॥२॥

कोई न माने मूर्त्तियाँ केवल बताता ज्ञान है।
कोई बताता मूर्तियों में ही बसा भगवान है।
कोई यहां है कह रहा सब वर्ण—आश्रम व्यर्थ हैं।
कोई समझता वर्ण आश्रम के बिना हम व्यर्थ हैं ॥३॥

कोई यहां है भक्ति का सन्देश जग को दे रहा ।
कोई न माने भक्ति भी बस त्याग का रस ले रहा ।
हैं पंथ नाना दिख रहे समझूं भला क्यों, एक हैं ?
यदि एक हैं तो सर्वदा रखते वृथा क्यों टेक हैं ॥४॥

किस का करूं मैं अनुसरण किसकी न मानूं बात मैं ।
निर्णय कहो कैसे करूं करुणा करूं या घात मैं ।
जब धर्म सब ही सत्य हैं तब कौन से पथमें चलूं ?
कर्तव्य-पथ में किस तरह आगे बढ़ूं फूलूं फलूं ॥५॥

श्रीकृष्ण—   गीत २५

अर्जुन, सब की एक कहानी ।
पंथ जुदा है घाट जुदे हैं पर है सब में पानी ॥
अर्जुन सब की एक कहानी ॥६॥

जब तक मर्म न समझा तबतक होती खींचातानी ।
पर्दा हटा हटा सब विभ्रम दूर हुई नादानी ॥
अर्जुन सब की एक कहानी ॥७॥

वर्ण अवर्ण, अहिंसा हिंसा, मूर्त्ति न मानी मानी ।
क्या प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति क्या सब है धर्म निशानी ।
अर्जुन सब की एक कहानी ॥८॥

यह विरोध कल्पना शब्द की होती है मनमानी ।
लड़ते और झगड़ते मूरख करें समन्वय ज्ञानी ।
अर्जुन सबकी एक कहानी ॥९॥

दोहा

(हिंसा–अहिंसा)

धर्म अहिंसा रूप है गर्हित हिंसा कार्य।
है विधेय हिंसा वहीं जहां रहे अनिवार्य ॥१०॥

मैंने बतलाये तुझे हिंसा के बहु भेद।
उन पर पूर्ण विचार कर मिट जायेगा खेद ॥११॥

समझ अहिंसा है वहां जहां हृदय हो शुद्ध।
क्षण भर हिंसा क्षम्य है मन भर हो यदि रुद्ध ॥१२॥

सर्वनाश होता जहां वहां अर्ध कर दान।
दुनिया यह बाज़ार है देख नफ़ा नुक़सान ॥१३॥

नर-बलि होती है जहां पशुवध वहां विधेय।
क्रम से पशुवध रोकना यही वेद का ध्येय ॥१४॥

नित्य जहां था गूँजता 'मार मार फिर मार'।
वहां रहे हिंसार्थ बस केवल तिथि त्यौहार ॥१५॥

उतना धर्म यहां हुआ जितना हिंसा–रोध।
धीरे धीरे पा रहा मनुज अहिंसा-बोध ॥१६॥

नित्य न हिंसाकांड हो इसीलिये हैं यज्ञ।
पशु-यज्ञों को छोड़कर करें यज्ञ आत्मज्ञ ॥१७॥

पशु-यज्ञ

वही सत्य पशु–यज्ञ है जहां सभ्यतोद्धार।
मानवता की अग्नि में पशुता का संहार ॥१८॥

इन्द्रिय-यज्ञ

विषय--दासता नष्ट कर बने विषय-मर्मज्ञ ।
संयम रूपी अग्नि में है यह इन्द्रिय--यज्ञ ॥१९॥

कर्म-यज्ञ

फल की आशा का किया कर्म--कुंड में होम ।
कर्मयज्ञ यह हो गया तम में ज्योतिष्टोम ॥२०॥

धन-यज्ञ

जन-समाज के कुंड में धन का आहुति दान ।
धन वैभव जिससे सफल है धनयज्ञ महान ॥२१॥

श्रम यज्ञ

तन के मन के वचन के श्रम का करना दान ।
हो न स्वार्थ की लालसा है श्रमयज्ञ महान ॥२२॥

मानयज्ञ

विनय कुंड में कर दिया अहंकार का होम ।
मानयज्ञ में मन गला पिघला जैसे मोम ॥२३॥

तृष्णायज्ञ

दुश्चिताएँ दूर हों तृष्णा का हो अन्त ।
तृष्णायज्ञ महान यह जो करता वह सन्त ॥२४॥

क्रोधयज्ञ

विनय बुद्धि सुख शान्ति सब हरता क्रोध पिशाच ।
क्रोधयज्ञ से बन्द हो इस पिशाच का नाच ॥२५॥

विद्यायज्ञ

दग्ध जहां हो मूढ़ता वह है विद्या यज्ञ ।
ज्ञान कुंड में होम हो रहे न कोई अज्ञ ॥२६॥

औषधयज्ञ

उचित चिकित्सा से किया रोगों का अवसान ।
सामूहिक उपकार यह औषध यज्ञ महान ॥२७॥

प्राण-यज्ञ

जनता के हित के लिये करना जीवन दान ।
प्राणयज्ञ यह विश्व का करता है उत्थान ॥२८॥

कीर्त्तियज्ञ

नाम रहे या जाय पर हो समाज-उद्धार ।
कीर्त्तियज्ञ यह विश्व में अनुपम त्यागागार ॥२९॥

ब्रह्मयज्ञ

जग हित रूपी ब्रह्म में किया व्यक्ति-हित लीन ।
यज्ञ-शिरोमणि है यही ब्रह्मयज्ञ स्वाधीन ॥३०॥

अगणित इनके भेद हैं अगणित इनके रूप ।
यदि न यज्ञ हो विश्व में तो घर घर दुखकूप ॥३१॥

अगर न हम पर के लिये करें स्वार्थ-बलिदान ।
मिट जाये सब जगत का पल में नाम-निशान ॥३२॥

यज्ञ परम आधार है यज्ञ परम कल्याण ।
यज्ञ न हो संसार में तो न किसी का त्राण ॥३३॥

ये ही सात्विक यज्ञ हैं सब जग के आधार ।
इन से ही सब तर गये ऋषि मुनि साधु अपार ॥३४॥

राजसयज्ञ कहा वहां जहां स्वार्थ का राज्य ।
राजस यज्ञों का बना घर घर में साम्राज्य ॥३५॥

निपट मूढ़ता रूप जो पशुवध आदिक यज्ञ ।
तामस-यज्ञ कहा इसे करते केवल अज्ञ ॥३६॥

जितना झेल सके जगत उतना ही उपदेश ।
करते हैं ऋषि मुनि सदा हटते हैं सब क्लेश ॥३७॥
देश काल के भेद से है धर्मों में भेद ।
किन्तु अहिंसा की तरफ़ हैं सब कर मत खेद ॥३८॥

प्रवृत्ति निवृत्ति

है न प्रवृत्ति निवृत्ति में कोई ध्येय-विरोध ।
है प्रवृत्ति रस-वर्धनी है निवृत्ति मलशोध ॥३९॥

हो निवृत्ति दुःस्वार्थ की कटें जायें सब पाप ।
हो प्रवृत्ति कल्याण में बरसे पुण्य-कलाप ॥४०॥

स्वार्थ-वासनाएँ घटीं चढ़ा प्रेम का रंग ।
उचित प्रवृत्ति निवृत्ति का अपने आप प्रसंग ॥४१॥

है न प्रवृत्ति निवृत्ति से बद्ध सराग विराग ।
वन में भी संसार है घर में भी है त्याग ॥४२॥

जहां साधु-संस्था बनी देशकाल अनुसार ।
वहां प्रवृत्ति निवृत्ति के दिखते विविध प्रकार ॥४३॥

देश काल के भेद से हैं जो नाना भेद ।
उनमें है न विरोध कुछ है न सत्य-विच्छेद ॥४४॥
कभी प्रवृत्ति प्रधान है कभी निवृत्ति प्रधान ।
अवसर के अनुसार हैं दोनों सुख-सामान ॥४५॥
सब प्रवृत्तिमय धर्म हैं सब निवृत्तिमय धर्म ।
अतिवादी कोई नहीं सब में हैं सत्कर्म ॥४६॥

मूर्त्ति अमूर्त्ति

मूर्त्ति अमूर्त्ति विरोध क्या दोनों एक समान ।
मूर्त्ति पूजता कौन है सब पूजें भगवान ॥४७॥
उन्हें मूर्तियाँ व्यर्थ हैं जिनने पाया ज्ञान ।
देखें अन्तर्दृष्टि से अणु अणु में भगवान ॥४८॥
मित्र शत्रु के चित्र भी जिनको एक समान ।
अणु भर क्षुब्ध न कर सकें जिनको ध्वजा निशान ॥४९॥
घूरा हो या तीर्थ हो जिनके हृदय न भेद ।
मन्दिर और मसान का जिनको हर्ष न खेद ॥५०॥
मन जिनके वश में हुआ छूटा जगजंजाल ।
शुद्ध बुद्धि जगती रहे निशिवासर सब काल ॥५१॥
घृणा न मूरति से रही रहा नहीं अनुराग ।
उचित रहा उनके लिये मूरति-पूजा-त्याग ॥५२॥
जिनका है भावुक हृदय अवलम्बन की चाह ।
मूर्त्ति सहारा है उन्हें प्रभु पाने की राह ॥५३॥
मूर्ति की न है प्रार्थना है प्रभु का गुणगान ।
प्रभुको पढ़ने के लिये है वह ग्रंथ-समान ॥५४॥

समझ रहे जो भूल से पत्थर को भगवान ।
उनकी पूजा व्यर्थ है हैं वे मूढ़ अजान ॥५५॥
अपनी अपनी योग्यता रुचि रुचि के अनुसार ।
मत-मदान्धता छोड़कर मूर्त्ति अमूर्त्ति विचार ॥५६॥
सब धर्मों में मूर्त्तियाँ दिखलातीं सत्कर्म ।
पर पत्थर-पूजा नहीं यही मूर्त्तिका मर्म ॥५७॥

वर्ण व्यवस्था

वर्ण व्यवस्था का कहा मैंने तुमसे मर्म ।
अर्थ-व्यवस्था-रूप वह है बाज़ारू कर्म ॥५८॥
अपनी अपनी जीविका मतिं गति के अनुसार ।
सबको मिल जाये यही वर्ण-व्यवस्था-सार ॥५९॥
जहां और जब यह करे बेकारी का नाश ।
तहां और तब ही इसे मिल सकता अवकाश ॥६०॥
ऐसे युग में धर्म भी गाता इसका गान ।
देश काल जैसा रहे वैसा बने विधान ॥६१॥
जब न व्यवस्था रह सके केवल रहे लकीर ।
कर्म हटे कुलमद बढ़े हो निर्जीव शरीर ॥६२॥
तब यह मुर्दा दूर कर साफ़ बना घरद्वार ।
उचित यही कर्तव्य है यही सुयोग्य विचार ॥६३॥
मानव जब उत्पन्न हो कर तब ही सन्मान ।
प्राणहीन हो जाय जब उसको भेज मसान ॥६४॥
दोनों में औचित्य है दोनों सद्व्यवहार ।
यदि विवेक इतना न हो तो हों हाहाकार ॥६५॥

मुर्दों की दुर्गंध से भरजावे संसार ।
रोगों का ताण्डव मचे घर घर नर-संहार ॥६६॥
जीवितको दे अन्न तू मुर्दे को दे आग ।
मानव हो या रीति हो मरने पर कर त्याग ॥६७॥
वर्ण-व्यवस्था नष्ट हो या हो उसका त्राण ।
देश काल अनुसार हैं दोनों से कल्याण ॥६८॥
वर्ण अवर्ण न कर सके कोई धर्म-विरोध ।
सब धर्मों में सर्वदा कर समता की शोध ॥६९॥

आश्रम व्यवस्था

आश्रम सब ही मानते हैं उससे कल्याण ।
जीवन में कुछ शान्ति है है पापों से त्राण ॥७०॥
कर्म सदा करते रहो निज वय के अनुसार ।
चारों ही पुरुषार्थ तब आ जायेंगे द्वार ॥७१॥
ब्रह्मचर्य आश्रम प्रथम जीवन भर का मूल ।
वैसा सब जीवन बने जैसा यह अनुकूल ॥७२॥
सकल शिल्प विद्या कला सारे ही संस्कार ।
आते दृढ़ बनते यहीं जीवन-मूलाधार ॥७३॥
पहिला आश्रम हो नहीं तो न पड़े संस्कार ।
मानव का आकार हो पर मन पशुतागार ॥७४॥
गार्हस्थ्याश्रम दूसरा जो सब का आधार ।
दुनिया इस पर चल रही यह सच्चा संसार ॥७५॥
यदि गृहस्थ आश्रम न हो हों सब सन्तति-हीन ।
जीते मर जायें सभी पैदा हों न नवीन ॥७६॥

उत्पादन सारा मिटे मिटजाये व्यापार ।
अर्थ काम का नाश हो हों सत्र अनागर ॥७७॥
मुनि भिक्षा पावें कहाँ बने वचन मन दीन ।
कणकण को तरसें सभी जैसे जल बिन मीन ॥७८॥
सारे आश्रम नष्ट हो मिट जाये घर द्वार ।
महामृत्यु नाचे यहाँ रह न सके संसार ॥७९॥
वानप्रस्थ है तीसरा कहा अर्ध-संन्यास ।
धंधे की चिन्ता नहीं और न जग का त्रास ॥८०॥
अगर न वान-प्रस्थ हो कब पावे नर चैन ।
ज्यों कोल्हू का बैल त्यों चकरावे दिन रैन ॥८१॥
होता है **संन्यास** में गृह-कुटुम्ब—संन्यास ।
मुक्ति सुलभ होती यहाँ हटते सारे त्रास ॥८२॥
मुक्त मूर्त्त कैसे बने अगर न हो संन्यास ।
मिल न सके निर्द्वंद सुख हटे न मन का त्रास ॥८३॥
चारों आश्रम व्यर्थ हैं चारों से कल्याण ।
पर इनका एकान्त हो तो न जगत का त्राण ॥८४॥
यदि जन—सेवा के लिये यौवन में संन्यास—
लिया गया अपवाद से तो न धर्म का ह्रास ॥८५॥
आवश्यक अपवाद यह इस में कौन विरोध ।
जहां समन्वय शक्ति है वहीं सत्य की शोध ॥८६॥

भक्ति

सब धर्मों में भक्ति है सब में है भगवान ।
सब धर्मों में त्याग है सब धर्मों में ज्ञान ॥८७॥

ईश्वर की है कल्पना निज निज मन अनुसार।
मन में जो बस जाय वह जीवन का आधार ॥८८॥
सब ही प्राणी हैं यहां निर्बल क्षुद्र अनीश।
इसीलिये हैं चाहते 'हो कोई जगदीश' ॥८९॥
जगकर्ता हो या न हो लेकिन हो आदर्श।
मनको सान्त्वन दे सदा जिसका ध्यान विमर्श ॥९०॥
अगम अगोचर शक्ति हो या लोकोत्तर व्यक्ति।
या सुखकर सिद्धान्त हो मन करता है भक्ति ॥युग्म॥
विपदाएँ जब हों विकट कोई हो न सहाय।
लेकिन जिसके ध्यान से मनमें बल आ जाय ॥९२॥
मन विपदाएँ सहसके होकर वज्र समान।
व्यक्ति शक्ति सिद्धान्त या वही कहा भगवान ॥(युग्म)॥
सत्य, शक्ति, कर्ता, नियति सब ऐश्वर्य-निधान ॥
करते हैं संसार का क्षेम सभी भगवान ॥९४॥
नाम रूप कोई रहे सब की भक्ति समान।
सत्य-भक्ति होती जहां वहीं बसा भगवान ॥९५॥
मसक तरे जलसिन्धु को पाकर वायु सहाय।
जीव तरे संसार को अगर भक्ति पा जाय ॥९६॥
मन प्रचंड है अश्वसम करता इच्छित काम।
वशमें आ जाता तभी जब हो भक्ति लगाम ॥९७॥
मुर्दे मन भी भक्ति से हो जाते हैं शक्त।
दुष्ट हृदय भी भक्ति से हो जाते अनुरक्त ॥९८॥

सब धर्मों में हो रहा भक्ति-योग का गान।
भक्ति-विरोध वहीं हुआ जहां रहा अज्ञान ॥९९॥

कोरा भक्त अगर बना स्वकर्तव्य को भूल।
भक्ति निकम्मी हो गई ढोंग-रूप सुख-शूल ॥१००॥

सत्पथ पर हम दृढ़ रहें इसीलिये है भक्ति।
वह मन का आधार है और भावना-शक्ति ॥१०१॥

ज्ञान कर्म भी हैं वहां जहां भक्ति निर्दोष।
तीनों सहयोगी बनें तभी पूर्ण संतोष ॥१०२॥

होते सम्यग्ज्ञान के भक्ति कर्म भी साथ।
प्रेम और कृति के बिना क्या आ सकता हाथ ॥१०३॥

ऋषि मुनि ज्ञानी तीर्थकृत् अर्हंत जिन अवतार।
सत्य-भक्ति रखकर किया सबने कर्म अपार ॥१०४॥

ज्ञानी बन बनबैठते अगर कर्म से हीन।
देते कैसे जगत को सत्सन्देश नवीन ॥१०५॥

त्याग

जहां त्याग है है वहां भक्ति ज्ञान सत्कर्म।
अविवेकी का त्याग क्या ज्ञान-हीन क्या धर्म ॥१०६॥

छूट गया यदि मोह तो छूट गया दुःस्वार्थ।
मगर छूटना चाहिये क्यों जनहित परमार्थ ॥१०७॥

वनवासी अथवा गृही अम्बर-धर या नग्न।
कैसा भी हो रह मगर सेवामें संलग्न ॥१०८॥

भक्ति ज्ञान या कर्म से सेवा का न विरोध ।
जहां न ये तीनों वहां व्यर्थ त्याग की शोध ॥१०९॥
अगर किसी को मुख्यता मिले काल अनुसार ।
तो न शेष का नाश है यह है धर्म-विचार ॥११०॥
सब धर्मों में कर्म है एक सभी का सार ।
सत्य न्याय की हो विजय हो सुखशान्ति अपार ॥१११॥

पद्मावती

सब धर्म परस्पर निर्विरोध सब में भगवान समाया है ।
सबने इन नाना रूपों में बस कर्मयोग ही गाया है ।
सन्नीति रहे जगमें जिससे वह ही सद्धर्म बताया है ।
तू कर अपना कर्तव्य-कर्म जो तेरे सन्मुख आया है ॥११२॥
(६९२)



तेरहवाँ अध्याय



अर्जुन— गीत २६

माधव तुम हो सच्चे ज्ञानी ।
तुम ही दूर करोगे मेरी भव-भव की नादानी ॥
माधव तुम हो सच्चे ज्ञानी ॥१॥

मर्म धर्म का नहीं समझती यह दुनिया दीवानी ।
धर्मोंमें द्वेषाग्नि लगी है मानों जलता पानी ॥
माधव तुम हो सच्चे ज्ञानी ॥२॥

दुनिया भूली प्रेम-धर्म की सुखकर सत्य कहानी ।
दीवानी दुनिया ने माधव कैसी शठता ठानी ॥
माधव तुम हो सच्चे ज्ञानी ॥३॥

घटघट के पट खोले तुमने अन्तर्ज्योति दिखानी ।
इस चेतन प्रकाश में सबने धर्म-मूर्ति पहिचानी ॥
माधव तुम हो सच्चे ज्ञानी ॥४॥

दोहा

सर्व-धर्म-सम-भाव के ज्ञान—मंत्र का दान ।
तुमने माधव कर दिया किया बड़ा अहसान ॥५॥

फिर भी शंका हो रही चित्त हुआ है खिन्न।
सब के दर्शन भिन्न क्यों तत्त्व-विवेचन भिन्न ॥६॥
धर्म धर्म जब एक हैं दर्शन में क्यों टेक।
मंत्र-सिद्धि में हो रहा विकट विघ्न यह एक ॥७॥

श्रीकृष्ण--

गीत २७

तू धर्म-शास्त्र का मर्म समझले भाई।
दर्शन-शास्त्रों को दे दे तनिक विदाई ॥
तुझको अपना कर्तव्य कर्म करना है।
अपनी परकी जग की विपत्ति हरना है।
पुरुषार्थ दिखाकर दुःख-सिन्धु तरना है।
विपदाओं में भी अटल धैर्य धरना है ॥
यह कर्म सिखाता धर्म परम सुखदाई।
तू धर्मशास्त्र का मर्म समझले भाई ॥८॥
ईश्वर है कोई या कि वचन का छल है।
वह कर्ता है या नहीं अचल या चल है।
क्यों करता यह अफ़सोस बना निर्बल है।
तू समझ मर्म की बात 'कर्मका फल है' ॥
जिस तरह बने तू मान 'कर्म फलदाई'।
तू धर्म-शास्त्र का मर्म समझले भाई ॥९॥
जग मूल रूप में एक विविधता माया।
या प्रकृति पुरुष ने मिलकर खेल बनाया।
या पंचभूत ने नाटक है दिखलाया।
इन बातों में क्या धर्म-तत्त्व है गाया ॥

कर्तव्य यहां क्या देता है दिखलाई ।
तू धर्म-शास्त्र का मर्म समझले भाई ॥१०॥

है क्षणिकवाद ही सत्य जगत चंचल है ।
या नित्यवाद में युक्ति तर्क का बल है ।
या कुछ अनित्य कुछ नित्य वस्तुका दल है ।
यह धर्म विषय में सब विवाद निष्फल हैं ।

इसमें किसने क्या आत्मशान्ति है पाई ।
तू धर्म-शास्त्र का मर्म समझले भाई ॥११॥

तूने जग परिमित या कि अपरिमित जाना ।
या ठाना तूने द्वीप-समुद्र बनाना ।
उनमें फिर कोई मुक्ति-धाम भी माना ।
फिर अन्य किसीने भिन्नरूप मत ठाना ।

इन मत-भेदों ने धर्म-कथा क्या गाई ।
तू धर्म-शास्त्र का मर्म समझले भाई ॥१२॥

दर्शन खगोल भूगोल गणित पढ़ जाओ ।
नाना शास्त्रों में अपनी बुद्धि लगाओ ।
पांडित्य बढ़ाओ कला-प्रेम दिखलाओ ।
पर धर्मशास्त्र का अंग न उन्हें बनाओ ॥

वह धर्म-शास्त्र जिसने सन्नीति सिखाई ।
तू धर्म-शास्त्र का मर्म समझले भाई ॥१३॥

अर्जुन—

दोहा

दर्शन का यदि धर्म से रहे नहीं सम्बन्ध ।
ध्येय रहे प्रत्यक्ष क्या धर्म बने तब अन्ध ॥१४॥

मुक्ति न हो ईश्वर न हो और न हो परलोक ।
धर्म करे जग किस लिये वृथा पापकी रोक ॥१५॥

श्रीकृष्ण—

धर्म कहा सुख के लिये रख तू उस पर ध्यान ।
मुक्ति ईश परलोक को मतकर ध्येय प्रधान ॥१६॥

मुक्ति

मान नहीं या मान तू परम मुक्ति का धाम ।
बहु-जनका कल्याणकर हुए पूर्ण सब काम ॥१७॥
मुक्ति मानकर यदि किया निज पर का कल्याण ।
मुक्ति रहे अथवा नहीं हुआ दुःख से त्राण ॥१८॥
'सदाचार फल सुख सदा' मानी इतनी बात ।
मुक्ति न मानी क्या गया रहा धर्म दिनरात ॥१९॥
दुख में भी सुख दे सके यही मोक्ष का कार्य ।
सिद्धशिला बैकुण्ठ या है न इसे अनिवार्य ॥२०॥
मैं तुझ से हूँ कह चुका यहीं मोक्ष संसार ।
किधर ढूँढ़ता मोक्ष तू अपनी ओर निहार ॥२१॥
मनको मोक्ष तभी मिले जब हो मन में धर्म ।
धर्म तभी मिल पायगा, जब हों दूर कुकर्म ॥२२॥
नित्य मुक्ति हो या न हो सुख चाहें सब लोक ।
इसीलिये मत बोल तू वृथा पाप की रोक ॥२३॥

अर्जुन—

नित्य मुक्ति यदि हो नहीं व्यर्थ हुए सत्कर्म ।
थोड़े से सुख के लिये कौन करेगा धर्म ॥२४॥

श्रीकृष्ण—

तेरी शंका है वृथा जगकी ओर निहार।
थोड़े से सुख के लिये नाच रहा संसार ॥२५॥
ज्यों कोल्हू का बैल त्यों दिन भर फिरते लोग।
दिनभर जीने के लिये करते तामस योग ॥२६॥
सुबह लिया पर शाम को फिर है खाली पेट।
इतने से सुख के लिये है जग का आखेट ॥२७॥
जब कणकण सुख के लिये करते नित्य कुकर्म।
तब मन भर सुखके लिये क्यों न करेंगे धर्म॥२८॥
पारलौकिकी मुक्ति की सारी चिन्ता छोड़।
मिले मुक्ति-सुख इसलिये पाप-जाल दे तोड़ ॥२९॥

ईश्वर

ईश्वर की चिन्ता न कर घटघट में भगवान।
सत्य-ज्ञान-आनन्द-मय जगत्पिता गुणखान ॥३०॥
'पुण्यपाप जो कुछ करो उसका फल अनिवार्य'।
इस प्रकार विश्वास हो यह ईश्वर का कार्य ॥३१॥
जिसको यह विश्वास है मिला उसे भगवान।
आस्तिक नास्तिककी यही है सच्ची पहिचान ॥३॥
ईश्वरवादी हैं बहुत करें नाम का जाप।
पर भीतर ईश्वर नहीं वहाँ भरा है पाप ॥३३॥
ईश्वर ईश्वर सब कहें पर न करें विश्वास।
यदि ईश्वर-विश्वास हो रहे न जग में त्रास ॥३४॥

पर की आँखों में जगत तब क्यों डाले धूल ।
जब ईश्वर है देखता दंड–अनुग्रह–मूल ॥३५॥
श्रद्धा ईश्वर पर रहे रहे परस्पर प्यार ।
दिख न पड़े तब जगत में चोरी या व्यभिचार ॥३६॥
श्रद्धा ईश्वर पर नहीं और न उसका ज्ञान ।
इसीलिये है पापमय यह संसार महान ॥३७॥

गीत २८

जगत तो भूला है भगवान ।
हुआ है छलनामय गुणगान ॥
जगत अगर जगदीश मानता ।
यदि अमोघ फलदान जानता ।
तो क्यों फिर विद्रोह ठानता ।
क्यों होता इस धरणीतल पर पापों का सन्मान ।
जगत तो भूला है भगवान ।
हुआ है छलनामय गुणगान ॥३८॥
यदि होता विश्वास हमारा ।
ईश्वर–व्याप्त जगत है सारा ।
तो असत्य क्यों लगता प्यारा ॥
धूल झोंकते क्यों पर की आँखों में हम नादान ।
जगत तो भूला है भगवान ।
हुआ है छलनामय गुणगान ॥३९॥
'दुनिया को क्या अन्ध बनाया ।
जब जगदीश्वर भूल न पाया ।

हमने ही तब धोखा खाया ।
पर इस सीधी सरल बात का है किस किस को ध्यान ।
जगत तो भूला है भगवान ।
हुआ है छलनामय गुणगान ॥४०॥

पापों से बचकर न रहेंगे ।
ईश्वर ईश्वर सदा कहेंगे ।
लड़ लड़कर सब कष्ट सहेंगे ॥
ईश्वर-भक्ति न जान इसे तू है कोरा अभिमान ।
जगत तो भूला है भगवान ।
हुआ है छलनामय गुणगान ॥४१॥

पापों से जो रहता न्यारा ।
उसको ही है ईश्वर प्यारा ।
है सत्कृति में ईश्वर-धारा ॥
ईश अनीशवाद का रहने दे कोरा व्याख्यान ।
जगत तो भूला है भगवान ।
हुआ है छलनामय गुणगान ॥४२॥

दोहा

कोई ईश्वर मानते कोई माने कर्म ।
फल पर यदि विश्वास हो तो दोनों ही धर्म ॥४३॥
सदसत् कर्मों की नहीं यदि मन में पर्वाह ।
सारे वाद वृथा गये मिली न सुख की राह ॥४४॥
कर्मवाद भी व्यर्थ है यदि न कर्म का ध्यान ।
पुण्य पाप का ध्यान हो तो सब वाद महान ॥४५॥

गीत २९

वृथा है कर्मवाद का गान ।
नहीं यदि सत्कर्मों का ध्यान ॥
यदि ईश्वर को दूर हटाया ।
युक्ति तर्कका खेल दिखाया ।
कर्मवाद का शंख बजाया ।
तथ्य मन्य फिर भी न बना यदि हुआ न कृतिका भान ।
वृथा है कर्मवाद का गान ।
नहीं यदि सत्कर्मों का ध्यान ॥४६॥
कर्म क्षमा न करेगा भाई ।
वह न सुनेगा कभी दुहाई ।
लेलेगा वह पाई पाई ।
जैसी करनी वैसी भरनी कर्मवाद पहिचान ।
वृथा है कर्मवाद का गान ।
नहीं यदि सत्कर्मों का ध्यान ॥४७॥
अँधियारा हो या उजियाला ।
हो या नहीं देखनेवाला ।
पिया किसीने विष का प्याला ।
होगी मौत, भले ही विषका हो गुणगान महान ।
वृथा है कर्मवाद का गान ।
नहीं यदि सत्कर्मों का ध्यान ॥४८॥

दोहा

कर्म मानकर यदि रहा पुण्य पाप का ध्यान ।
ईश्वर माना या नहीं है आस्तिक्य महान ॥४९॥

दर्शन-शास्त्र-विवाद ये समझ न धर्माधार ।
धर्म यही है सकल जग पावे तेरा प्यार ॥५०॥
ईश्वरवादी मानले, ईश्वर का संसार ।
ईश्वर के संसार पर क्यों हो अत्याचार ॥५१॥
कोई देखे या नहीं देखे ईश्वर-दृष्टि ।
इसीलिये छिपकर कभी कर न पाप की सृष्टि ॥५२॥
सम्राटों से भी बड़ा है वह न्यायाधीश ।
उससे छिप सकता न कुछ व्यापक वह जगदीश ।५३
अगर छिपाया जगत से तोभी है निःसार ।
ईश्वर से क्या छिप सके जिसकी दृष्टि अपार ॥५४॥
छलसे यदि पाया नहीं यहां पाप का दंड ।
पापी पायेगा वहां ईश्वर-दंड प्रचंड ॥५५॥
ऐसी श्रद्धा है जहां वहां न रहता पाप ।
पापहीन पर ईश की करुणा अपने आप ॥५६॥
कर्मवाद जिसनें लिया उसका है यह कार्य ।
जगको धोखा दे नहीं फल मिलना अनिवार्य ॥५७॥
दुनिया फल दे या न दे अटल कर्म का दंड ।
कर्म शक्ति करती सदा खंड खंड पाखंड ॥५८॥
है गवाह अथवा नहीं कर्म को, न पर्वाह ।
भला कभी क्या देखता विष गवाह की राह ॥५९
दोनों वाद सिखा रहे हमें एक ही बात ।
सदसत् कर्मोंका यहां फल मिलता दिनरात ॥६०॥

दोनों का दर्शन जुदा किन्तु धर्म है एक।
षड् दर्शन के भेद से धर्मोंमें न कुटेक ॥६१॥

परलोक

आत्मतत्त्व ध्रुव सत्य है है उसका परलोक।
इसीलिये ही मौतका करें न बुध-जन शोक ॥६२॥
फटे पुराने वस्त्र सा छोड़ा एक शरीर।
तभी दूसरा मिल गया क्यों होना दिलगीर ॥६३॥
आत्मसिद्धि हैं कर रहे अनुभव और विवेक।
फिर भी दर्शन-शास्त्रकी यह है गुत्थी एक ॥६४॥
है निःसार विवाद यह इसका कभी न अन्त।
इसीलिये पड़ते नहीं इस झगड़े में सन्त ॥६५॥
अपने अनुभव से करें वे आत्माका ध्यान।
अजर अमर चैतन्यमय आत्मा शक्ति-निधान ॥६६॥
आत्मतत्त्व जब नित्य है तब परलोक अरोक।
मृत्यु-अनन्तर जो मिले वही कहा परलोक ॥६७॥
है न कहीं परलोक की कोई जगह विशेष।
जगह जगह परलोक है आत्मा का नववेष ॥६८॥
पाया हैं परलोक यह पूर्व जन्म के बाद—
हम सब हैं परलोक में भले नहीं हो याद ॥६९॥
यह छोटी सी जिंदगी है छोटा सा खेल।
यह पूरा जीवन नहीं कुछ घड़ियोंका मेल ॥७०॥
यह जीवन दुखमय रहे फिर भी हो न निराश।
आत्माका जीवन बहुत कभी न उसका नाश ॥७१॥

स्वकर्तव्य करते रहें भले सहें फिर पीर।
यहां नहीं तो है वहां बने रहें कुछ धीर ॥७२॥
अजब कमाई धर्म की कभी न मारी जाय।
यह हुंडी ऐसी नहीं जो न सिकारी जाय ॥७३॥
इस जीवन का कष्ट सब है क्षणभर का कष्ट।
क्षणभर के सुख के लिये समता करें न नष्ट ॥७४॥
कालचक्र है अवनि-सम जीवन रेणु-समान।
एक रेणुकण के लिये क्यों हों चिन्तावान ॥७५॥
यही व्यापिका दृष्टि है आत्म-तत्त्व का अर्थ।
बाक़ी वादविवाद सब शक्ति-क्षीणकर व्यर्थ ॥७६॥
अगर न पाई दृष्टि यह व्यर्थ आत्म-गुण-गान।
जो थोड़े में फँस रहा वही बना नादान ॥७७॥
जीवन बलि हो जाय यह कर मत कुछ पर्वाह।
बस अपना कर्तव्यकर चल जनहितकी राह ॥७८॥
जिसने पाया अर्थ यह उसे मिला परलोक।
रहा कर्म में लीन पर हुआ न अणुभर शोक ॥७९॥
आत्मा माने या नहीं है उसका कल्याण।
उसने पाया धर्म से आत्मवाद का प्राण ॥८०॥
आत्म-अनात्म-विवाद है दर्शन का ही अंग।
इस विवाद को कर नहीं धर्मशास्त्र के संग ॥८१॥
नाम लिया परलोक का किये ओट में पाप।
'मत' अनात्मवादी तभी बनते अपने आप ॥८२॥
आत्मवाद के साथ में रह न सकेगा पाप।
अगर पाप है तो लगी बस अनात्मकी छाप ॥८३॥

आत्मा माने या नहीं अगर नहीं है पाप ।
आत्म-ज्ञान वह पागया दूर हुए सब ताप ॥८४॥
पारलौकिकी सृष्टि की सारी चिन्ता छोड़ ।
जो अपना कर्तव्य है उससे नाता जोड़ ॥८५॥
कहां बसा परलोक है इसका कर न ख़याल ।
तुझे फँसा ले जायगा दुष्ट वितंडा-जाल ॥८६॥
यदि यह जीवन धर्ममय तो पर-जन्म महान ।
होता है सद्धर्म का सुख में पर्यवसान ॥८७॥
इतना ही विश्वासकर ले यह जन्म सुधार ।
सब धर्मोंका ध्येय है हो सुखशान्ति अपार ॥८८॥
जब समाज के बीचमें छा जाते हैं पाप ।
सत्य-अहिंसा-पुत्र तब आते अपनेआप ॥८९॥
दूर हटावें जगत के जो नर अत्याचार ।
वे कहलाते हैं यहां तीर्थंकर अवतार ॥९०॥
चलकर दिखलाते सुपथ बतलाते सदुपाय ।
मिट जाते हैं अन्त में अन्यायी अन्याय ॥९१॥
कष्ट यहां के नष्ट हों सब धर्मों का ध्येय ।
इसी ध्येय की पूर्ति को चर्चा चले अमेय ॥९२॥
दुनिया का उद्धार कर पाप-प्रगति दे रोक ।
बिना कहे आजायगा मुट्ठी में पर-लोक ॥९३॥

अर्जुन —

द्वैताद्वैत

मुक्ति ईश परलोक की चिन्ता कर दी दूर ।
एक बात पर कर रही मनको चकनाचूर ॥९४॥

द्वैत और अद्वैत में हृदय रहा है झूल ।
बतलादो मुझको सखे, कौन यहां अनुकूल ॥९५॥
ब्रह्म एक ही सत्य है कहते ऋषि मुनि आर्य ।
मायामय संसार यह करूं वृथा क्यों कार्य ॥९६॥
सुलझ सुलझकर उलझती ज्ञात बनी अज्ञात ।
डाल डाल से जारही पातपात पर बात ॥९७॥

श्रीकृष्ण—

तूने दर्शन-शास्त्र का पिंड न छोड़ा पार्थ ।
इसीलिये भ्रम में पड़ा भूल गया परमार्थ ॥९८॥
'जगत मूल में एक है अथवा हैं दो तत्त्व'
धर्म मिलेगा क्या यहां क्या है इसमें सत्त्व ॥९९॥
मिट्टी के हैं दस घड़े उनकी दशा न एक ।
अगर एक मिट जाय तो फिर भी बचें अनेक ॥१००॥
दुग्ध रक्त पर है लगी एक तत्त्व की छाप ।
रक्तपान में पाप पर दुग्धपान निष्पाप ॥१०१॥
उपादान यदि एक है जुदे जुदे हैं कार्य ।
तो सुखदुख या नाशका ऐक्य नहीं अनिवार्य ।१०२
एक ब्रह्म ही बन रहा वध्य-वधक का मूल ।
तो भी हिंसकता नहीं जीवन के अनुकूल ॥१०३॥
है सुख दुख के मूल में एक चेतना तत्त्व ।
तो भी सखको छोड़कर दुःख न चाहें सत्त्व ॥१०४॥
एक तत्त्व की बात है जीवन में निःसार ।
धर्मशास्त्र में व्यर्थ यह द्वैताद्वैत विचार ॥१०५॥

अंगी अंग जुदे जुदे यही भेद–विज्ञान ।
धर्मशास्त्रका द्वैत है रख तू इसका ध्यान ॥१०६॥
जहां भेद-विज्ञान है वहां न रहता पाप ।
आत्मा क्यों तन के लिये सहने बैठे ताप ॥१०७॥
धर्म कहे अद्वैत को विश्व–प्रेम का रंग ।
स्वार्थ मिले परमार्थ में दोनों का हो संग ॥१०८॥
मान द्वैत–अद्वैत या दोनों हैं निर्दोष ।
किन्तु अर्थ करते समय धर्म-शास्त्र कर कोष ॥१०९॥
माया है या सत्य जग इसकी चिन्ता छोड़ ।
तेरा जो कर्तव्य है उससे मुँह मत मोड़ ॥११०॥
यदि माया है विश्व तो माया तेरा कार्य ।
माया के दर्बार में माया है अनिवार्य ॥१११॥
माया ही सब दुःख है माया सकल उपाय ।
माया देने में भला तेरा क्या लुटजाय ॥११२॥
तुझ पर अत्याचार में था माया का मेल ।
तो उसका प्रतिकार भी है माया का खेल ॥११३॥
मायामय खींचा गया अगर द्रौपदी चीर ।
दुःशासन की मौत भी माया, फिर क्या पीर ॥११४॥
मांगा बारह वर्ष तक मायामय वनवास ।
अब मायामय राज्य कर इसमें कैसा त्रास ॥११५॥
सब माया का खेल है पर न अधूरा खेल ।
जब तक खेल मिटे नहीं तब तक चोटें झेल ॥११६॥
अब तक खेला खेल तू अब क्यों करता त्याग ।

माया के संसार में माया राग विराग ॥११७॥
राजा बन या रंक बन ले घर या संन्यास ।
मायामय संसार सब कहाँ करेगा वास ॥११८॥
माया ब्रह्म अभिन्न हैं भीतर तनिक टटोल ।
ब्रह्म सिन्धु जल तुल्य है माया जल-कल्लोल ॥११९॥
ब्रह्महीन माया नहीं ब्रह्म न मायाहीन ।
नित्य अनित्य भले रहें किन्तु परस्पर लीन ॥१२०॥
एक छोड़कर दूसरा मिल न सकेगा पार्थ ।
जहां समन्वय उभय का वहीं रहा परमार्थ ॥१२१॥
बाहर माया दिख रही कर बाहर सब काम ।
ब्रह्म तुल्य निर्लिप्त रह भीतर तेजो-धाम ॥१२२॥
दर्शन के पार्थक्य से हृदय नहीं कर खिन्न ।
धर्म-शास्त्र से भिन्न है दर्शन का नय भिन्न ॥१२३॥
दर्शन कोई ले मगर पूर धर्म के प्राण ।
धर्म-शास्त्र की दृष्टि कर देख स्वपर-कल्याण ॥१२४॥
धर्म धर्म सब एक हैं सब में जनहित सार ।
सब में सत्येश्वर विजय और पाप की हार ॥१२५॥
सद्धर्मसार ले समझ सत्यका ज्ञान ध्यान में आने दे ।
दर्शन शास्त्रोंमें झगड़ झगड़ अपनी मति व्यर्थ न जानेदे ।
कर्तव्य पंथ का दर्शन कर सद्विजय न्याय को पाने दे ।
मरने को है अन्याय खड़ा तेरे हाथों मर जाने दे ॥१२६॥



चौदहवाँ अध्याय



अर्जुन— दोहा

माधव तुमने कह दिया धर्म-शास्त्र-सन्देश ।
मैं अपना कर्तव्य कर दूर करूंगा क्लेश ॥१॥
दर्शन के झगड़े मिटे मिटा निरर्थक शोर ।
बुद्धि हृदय खिचने लगे धर्म-शास्त्र की ओर ॥२॥
धर्म-शास्त्र ही श्रेष्ठ है सब शास्त्रों का शास्त्र ।
पाप-प्रताड़न के लिये देता यह परमास्त्र ॥३॥
फिर भी मोहित कर रहे विविध-धर्म के ग्रंथ ।
कैसे मैं निर्णय करूं कैसे पकड़ूं पंथ ॥४॥
श्रद्धा लूँ या तर्क लूँ खोजूं सारे धर्म ।
किसका अवलम्बन करूं समझूं अपना कर्म ॥५॥
अगर बनूं श्रद्धालु मैं करूं अन्ध-विश्वास ।
तो मानवता नष्ट हो पशुता करे निवास ॥६॥
धर्म-परीक्षण क्या करूं चलूं रूढ़ि की गैल ।
एक जगह नचता रहूँ ज्यों कोल्हू का बैल ॥७॥

देशकाल प्रतिकूल जो करें रूढ़ियाँ वास ।
उनको दूर न कर सके कभी अन्ध-विश्वास ॥८॥
छोड़ूं श्रद्धा इसलिये तर्क रक्ख लूं हाथ ।
काट छाँट करने चलूं कर संशय का साथ ॥९॥
करूं परीक्षा बुद्धि से छानूं सारे धर्म ।
जीवन भर खोजा करूं सत्य--धर्म का मर्म ॥१०॥
लेकिन क्या हो पायगा कभी खोज का अन्त ।
बुद्धि तर्क मितशक्ति हैं जगमें खोज अनन्त ॥११॥
जीवन भर खोजा करूं पा न सकूं विश्राम ।
करने बैठूं कब सखे मैं जीवन के काम ॥१२॥
छोटी सी यह बुद्धि है हैं सब शास्त्र अथाह ।
अगर थाह लेने चलूं हो जाऊँ गुमराह ॥१३॥
ऋषि मुनि तीर्थंकर कहां कहां मन्दमति पार्थ ।
करूं परीक्षण किस तरह व्यर्थ यहां पुरुषार्थ ॥१४॥
सैन्धव--कण लेने चले यदि समुद्र की थाह ।
घुले विचारा बीच में पा न सके अवगाह ॥१५॥
बिना परीक्षण के अगर मिल न सके सद्धर्म ।
मन्दबुद्धि संसार यह कैसे करे सुकर्म ॥१६॥
श्रद्धा से गति है नहीं तर्क से न विश्राम ।
करुणा कर बोलो सखे करूं कौनसा काम ॥१७॥
मन कहता कुछ बात है बुद्धि दूसरी बात ।
करूं समन्वय किस तरह हो न परस्पर घात ॥१८॥

श्रीकृष्ण—

बुद्धि हृदय दोनों मिलें दोनों हों अनुकूल ।
सत्येश्वर-दर्शन तभी सकल सुखों का मूल ॥१९॥
श्रद्धाहीन न तर्क हो श्रद्धा हो न अतर्क ।
वर्तमान दोनों रहें तो हो सुखद उदर्क ॥२०॥

श्रद्धा

श्रद्धा यदि पाई नहीं व्यर्थ बुद्धि का खेल ।
सुख-प्रसूति होती तभी जब दोनों का मेल ॥२१॥
सात्त्विक राजस तामसी श्रद्धा तीन प्रकार ।
निश्चय होना चाहिये सात्त्विक के अनुसार ॥२२॥
सात्त्विक श्रद्धा है वही जो न कभी छलरूप ।
बुद्धि-तर्क-अविरुद्ध जो सत्यभक्ति-फलरूप ॥२३॥
स्वार्थवासनाशून्य जो, जिसमें रहे विवेक ।
जिसमें रहे न मूढ़ता रहे सत्य की टेक ॥२४॥
राजस श्रद्धा है वही जहां स्वार्थ की चाह ।
गुणों की न पर्वाह है सत्य की न पर्वाह ॥२५॥
तामस श्रद्धा है वहां जहां घोर अविवेक ।
बुद्धि बहिष्कृत है जहां जड़ता का अतिरेक ॥२६॥
रूढ़ि करे तांडव जहां पदपद पर दिन रात ।
सही न जाये सत्य भी नये रूप की बात ॥२७॥
तामस श्रद्धा छोड़ दे राजस से मुँह मोड़ ।
सात्त्विक श्रद्धा साथ ले कर सुकार्य जीतोड़ ॥२८॥

सात्त्विक श्रद्धा के विना बने न कोई काम ।
संशय में डोला करे मिले न सुख का धाम ॥२९॥
जब तक श्रद्धा हो नहीं तबतक व्यर्थ विचार ।
श्रद्धा-हीन विचार का हो न सके व्यवहार ॥३०॥
खेल तर्क के खेल सब पर श्रद्धा के अर्थ ।
देव शास्त्र गुरु धर्मका हो न परीक्षण व्यर्थ ॥३१॥

तर्क

अगर न श्रद्धा आ सकी हुआ परीक्षण व्यर्थ ।
किन्तु परीक्षण के विना श्रद्धा एक अनर्थ ॥३२॥
बुद्धि अगर छोटी रहे तो भी हो न हताश ।
छोटीसी ही आँख में भर जाता आकाश ॥३३॥
सोच न कर पांडित्य यदि हो न सका है प्राप्त ।
सहज बुद्धि निष्पक्षता दोनों हैं पर्याप्त ॥३४॥
गान भले जाने नहीं जाँच सकें पर गान ।
मृग अहि आदिक जाँचते बंशी की मृदु तान ॥३५॥
पाकशास्त्र जाने नहीं करें स्वाद प्रत्यक्ष ।
निपट अपाचक लोग भी स्वाद-परीक्षण-दक्ष ॥३६॥
वैद्यक शास्त्र न जानता पर फल के अनुसार ।
वैद्य-परीक्षण में चतुर बनता है संसार ॥३७॥
हित अनहित की बात का समझ सकें सब मर्म ।
सरल परीक्षा धर्म की-क्या है हितकर कर्म ॥३८॥
प्रायः सब जन कर सकें सदसत् की पहिचान ।
भले बुरे की बात का कठिन नहीं है ज्ञान ॥३९॥

ऋषि मुनि आदिक दे गये अपने युग का ज्ञान ।
आज ज़रूरी क्या यहां कर इसकी पहिचान ॥४०॥
धर्म-परीक्षण है यही यही शास्त्र का बोध ।
यह विवेक का कार्य है यही वेद की शोध ॥४१॥
यदि विवेक आया नहीं व्यर्थ शास्त्र का ज्ञान ।
सब शास्त्रों का मर्म है हित—अनहित पहिचान ॥४२॥
सहज तर्क सब को मिला कर उसका उपयोग ।
धर्म परीक्षण कर सदा मिटे मूढ़ता रोग ॥४३॥
पक्षपात को छोड़ दे करले शुद्ध विचार ।
तर्क-सुसंगत बात कर श्रद्धा का आधार ॥४४॥
धर्म निकष बतला चुका रख तू उसका ध्यान ।
थोड़े में हो जायगा हित-अनहित का ज्ञान ॥४५॥

अर्जुन—

तर्क कल्पनारूप है उसका व्यर्थ विचार ।
दे न सकेगा वह कभी परम सत्यका सार ॥४६॥

श्रीकृष्ण—

तर्क न कोरी कल्पना वह अनुभव का सार ।
अनुभव विविध निचोड़ कर हुआ तर्क तैयार ॥४७॥
नियत साध्य-साधन रहें अनुभव के अनुकूल ।
सदा अबाधित व्याप्ति हो वही तर्क का मूल ॥४८॥
जितनी मन की कल्पना उतना भ्रम सन्देह ।
शुद्ध तर्क तो है सदा सत्य ज्ञान का गेह ॥४९॥

मिली तर्क में कल्पना सत्य हुआ प्रच्छन्न ।
सत्य जहां प्रच्छन्न है जीवन वहां विपन्न ॥५०॥
तर्कशास्त्र ले हाथ में कर असत्य को चूर्ण ।
जो जो सत्य जँचे वहां रख तू श्रद्धा पूर्ण ॥५१॥
देव शास्त्र गुरु जाँचले कर न अन्ध-विश्वास ।
फिर अविचल श्रद्धालु बन बन जा उनका दास ॥५२॥
श्रद्धा और विवेक से ऐसा नाता जोड़ ।
सत्यामृत बहता रहे हृदय निचोड़ निचोड़ ॥५३॥

अर्जुन—

देव शास्त्र गुरु हैं बहुत दूँ किन किन को मान ।
कैसे पहिचानूं उन्हें क्या उनकी पहिचान ॥५४॥
देव कहां है विश्व में कहां देव का धाम ।
गुरु रहते किस वेष में उनको करूं प्रणाम ॥५५॥

श्रीकृष्ण

देव

जीवन के आदर्श जो समझ उन्हें तू देव ।
झुक जाता उनकी तरफ़ सब का मन स्वयमेव ॥५६॥
पूर्णदेव गुण-देव हैं व्यक्ति-देव हैं अंश ।
व्यक्तिदेव नरदेव हैं करें पाप का भ्रंश ॥५७॥
नित्यदेव गुणदेव हैं पाकर उनका सार ।
बने महात्मा जगत में वे नर-देव अपार ॥५८॥
सभी जगह गुणदेव हैं घटघट में है वास ।
देख चुका गुणदेव जो हटा उसी का त्रास ॥५९॥

परम भक्त गुणदेव के व्यक्तिदेव गुणखानि ।
तारे जो संसार को कर पापों की हानि ॥६०॥

गीत ३०

सब देवों का दर्बार भरा है भाई ।
है सत्य सभी का पिता अहिंसा माई ॥
ये मात-पिता शिव-शिवा ब्रह्म सह माया ।
परमेश्वर परमेश्वरी गुणों की काया ॥
श्री ह्री धृति लक्ष्मी बुद्धि इन्हीं की छाया ।
सब ही शास्त्रों ने गान इन्हीं का गाया ॥
सदसद्विवेक सत्प्रेम—रूप सुखदाई ।
है सत्य सभी का पिता अहिंसा माई ॥६१॥
सब सम्प्रदाय हैं स्थान जमाये इन में ।
सब शास्त्र खड़े हैं शीस नमाये इन में ॥
सारे योगी हैं योग रमाये इनमें ।
जगके सारे गुणदेव समाये इनमें ॥
है लीन इन्हीं में शक्ति न्याय चतुराई ।
है सत्य सभी का पिता अहिंसा माई ॥६२॥
इनके जो सच्चे भक्त जगत में आते ।
वे ऋषि तीर्थंकर या अवतार कहाते ।
इनकी पूजा कर जग-सेवा कर जाते ।
इनके अनुपम सन्देश जगत में लाते ॥
उनमें भी इनसे देवरूपता आई ।
सब देवों का दर्बार भरा है भाई ॥६३॥

गुणदेव विराजे यहाँ सभी के मनमें ।
जो करें उन्हें प्रत्यक्ष वचन तन जन में ॥
गुण-देव-भक्त वे देव बने नरतन में ।
नर से नारायण बने इसी जीवन में ॥
उन नरदेवों की अद्भुत पुण्य कमाई ।
सब देवों का दर्बार भरा है भाई ॥६४॥

वे सत्य अहिंसा--पुत्र जगत के भ्राता ।
जो थे जीवनभर रहे दुखित-जन-त्राता ॥
दुख सहे स्वयं पर जगको दी सुख साता ।
थे तो मनुष्य पर जगके भाग्य-विधाता ॥
वे पार हुए दुनिया ने महिमा गाई ।
सब देवों का दर्बार भरा है भाई ॥६५॥

जिसने गुण-देवों का शुभ दर्शन पाया ।
जिसने नर--देवों में समभाव दिखाया ।
बन सत्य-अहिंसा-भक्त जगत में आया ।
जिसने सेवा कर घर घर रस बरसाया ॥
है धन्य उसी का पिता उसी की माई ।
सब देवों का दर्बार भरा है भाई ॥६६॥

शास्त्र

नरदेवों के वचन या जीवन का इतिहास ।
सत्पथ-दर्शक शास्त्र है सत्येश्वर का दास ॥६७॥
देशकाल को देखकर व्यक्ति-शक्ति अनुसार ।
सब शास्त्रों का सार ले जो हो तारणहार ॥६८॥

एक बात अच्छी यहाँ वहाँ बुरी हो जाय ।
देशकाल अनुकूल जो वही समझ सदुपाय ॥६९॥
सब शास्त्रों को देख तू देशकाल मत भूल ।
सत्य, असत्य बने वहाँ जहां समय प्रतिकूल ॥७०॥
देशकाल के भेद से दिखता जहां विरोध ।
समभावी बन, कर वहाँ शुद्धबुद्धि से शोध ॥७१॥
तू तो न्यायाधीश है हैं सब शास्त्र गवाह ।
शुद्ध बुद्धि से न्यायकर अगर सत्यकी चाह ॥७२॥
यदि विकार है शास्त्र में तोभी क्या पर्वाह ।
सब विकार धुल जाँयगे पाकर बुद्धि-प्रवाह ॥७३॥
शास्त्र-परीक्षण कर सदा करले निकष विवेक ।
सार सार सब खींचले सब अनेक हों एक ॥७४॥
विधि-दृष्टान्त स्वरूप दो धर्म शास्त्र के भेद ।
नियम और दृष्टान्त से भरे हुए सब वेद ॥७५॥
मनके तनके वचन के पापों पर परमास्त्र ।
अन्तर बाहर के नियम बतलाता विधि शास्त्र ॥७६॥
उक्त नियमों की सफलता या उनका व्यवहार ।
बतलाते दृष्टान्त हैं धर्मशास्त्र का सार ॥७७॥
नियम बदलते हैं सदा देशकाल-अनुसार ।
जिनसे जनकल्याण हो हो उनका व्यवहार ॥७८॥
किसी शास्त्र में हैं नियम देशकाल-प्रतिकूल ।
उन्हें बदल पर रख विनय अहंकार है मूल ॥७९॥

बनता कोई शास्त्र जब देशकाल वह देख ।
शास्त्र नियम होते नहीं कभी वज्र की रेख ॥८०॥
सत्य अहिंसा हैं अटल सब धर्मोंका सार ।
किन्तु विविधता से भरा है उनका व्यवहार ॥८१॥
घबरा मत वैविध्य से देख जगत्कल्याण ।
टुकड़े टुकड़े जोड़कर पूर सभी में प्राण ॥८२॥
दृष्टान्तों का काम है खींचे जीवन चित्र ।
महाजनों को देख जन जीवन करें पवित्र ॥८३॥
ये कल्पित दृष्टान्त हों या कि अकल्पित-तथ्य ।
तथ्यातथ्य विचार मत हैं दोनों ही पथ्य ॥८४॥
नीति सिखावे जो कथा वह अतथ्य या तथ्य ।
दोनों में ही सत्य है है वह जगको पथ्य ॥८५॥
पर अतथ्य ऐसा न हो करे न जग विश्वास ।
अगर असम्भव जग कहे तो है व्यर्थ प्रयास ॥८६॥
सम्भव सी सब को लगे दे सत्पथ की दृष्टि ।
हुई कथा साहित्य में धर्म-शास्त्र की सृष्टि ॥८७॥
अगर न विश्वसनीय तो क्या उसका उपयोग ।
झूठी बातें समझकर नाक सिकोड़ें लोग ॥८८॥
बात भले कल्पित रहे पर यदि विश्वसनीय ।
असर करे तो हृदय पर लगे सत्य कमनीय ॥८९॥
पिघल पिघल कर दिल बहे धुल जायें सब पाप ।
स्वच्छ हृदय में धर्म हो बिम्बित अपने - आप ॥९०॥

कथारूप जो शास्त्र हैं उन्हें न कह इतिहास ।
यद्यपि हैं इतिहास से अधिक सत्यके पास ॥९१॥
जो कुछ होता जगत में उसे सत्य मत मान ।
जो कुछ होना चाहिये उसे सत्य पहिचान ॥९२॥
कथा-शास्त्र का है सदा तथ्य-मूल्य कुछ अल्प ।
सत्य-मूल्य पर है अधिक है कल्याण अनल्प ॥९३॥
देख कथा साहित्य में सच्चरित्र निर्माण ।
जितना हो निर्माण यह उतना जग-कल्याण ॥९४॥
शास्त्र-परीक्षण कर सदा रख पर ऐसी दृष्टि ।
मर्म देख जो कर सके सत् शिव सुन्दर सृष्टि ॥९५॥

गुरु

शास्त्र परीक्षण की तरह गुरु की भी कर जाँच ।
गुरु-वेषी कोई कुगुरु दे न साँचको आँच ॥९६॥
जीवन भी देकर करे निज पर का उद्धार ।
वही सुगुरु है जगत में धीरज का आधार ॥९७॥
मूर्त्तिमंत जो साधुता साधे जो परकार्य ।
जीवन भर जिसके लिये देना है अनिवार्य ॥९८॥
जितना ले उससे अधिक जगको करता दान ।
जिसका जीवन बन रहा मूर्त्तिमंत व्याख्यान ॥९९॥
करके दिखलाता सदा जो कुछ बोले बोल ।
वह मानव है, है नहीं कोरा बजता ढोल ॥१००॥
वह चरित्र बल से बली वेष न जिसकी पूर्त्ति ।
वह मानव है; है नहीं--जड़ पदार्थ की मूर्त्ति ॥१०१॥

पोथों का कीड़ा नहीं अनुभव उसका ज्ञान ।
वह मानव है, है नहीं रट्टू कीर समान ॥१०२॥
उसने पाया है प्रथम मानवता का मान ।
वह मानव है, है नहीं--पुच्छ--हीन हैवान ॥१०३॥
विनय विवेक सुबन्धुता कर्मठता का गेह ।
वह मानव है, हैं नहीं--नर की मुर्दा देह ॥१०४॥
ऐसा सद्गुरु ढूँढ़ले गुणगण का भंडार ।
जो जहाज बनकर करे भवसागर के पार ॥१०५॥
रखकर गुरु का वेष जो करते नाना पाप ।
उनका भंडाफोड़ कर मिटे जगत का ताप ॥१०६॥
पैर पुजाने के लिये लेते जो गुरुवेष ।
वे पृथ्वी के भार हैं कर उनको निःशेष ॥१०७॥
ज्ञान नहीं संयम नहीं और न पर उपकार ।
वे कुसाधु गुरु-वेष में हैं पृथ्वी के भार ॥१०८॥
धूर्त लोग गुरु--वेष में बने रंक से राव ।
वे संसार समुद्र में हैं पत्थर की नाव ॥१०९॥
सम्प्रदाय कोई रहे कोई भी हो वेष ।
वह गुरु जिसका हो गया अन्तर्मल निःशेष ॥११०॥
गृही रहे संन्यस्त या दोनों एक समान ।
वह गुरु जिसका है सदा जगके हितपर ध्यान ॥१११॥
कुगुरु-जाल से बच सदा पकड़ सुगुरु का हाथ ।
अंतिम तत्त्व न भूल पर तू ही तेरा नाथ ॥११२॥

यदि विवेक तुझ में नहीं तो क्या गुरुकी छाप ।
यदि विवेक है तो बना तू अपना गुरु आप ॥११३॥
तुझ में अगर न योग्यता व्यर्थ देव-गुरु-शास्त्र ।
कायर निर्बल के लिये व्यर्थ सकल दिव्यास्त्र ॥११४॥
हैं निमित्तभर देव गुरु उपादान तू आप ।
उपादान बेजान तो व्यर्थ निमित्त-कलाप ॥११५॥
उपकारी हैं देवगुरु पूज्य इन्हें तू मान ।
पर पलभर भी भूल मत तू अपना भगवान ॥११६॥
सबकी सुन पर सोच खुद देख सुदृष्टि पसार ।
है शास्त्रों का शास्त्र यह खुला हुआ संसार ॥११७॥

(गीत २१)

भाई पढ़ले यह संसार ।
खुला हुआ है महाशास्त्र यह जिस में वेद अपार ।
भाई पढ़ले यह संसार ॥११८॥

अणु अणु में पत्तों पत्तों में लिखा हुआ है ज्ञान ।
पढ़ सकतीं अन्तर की आँखें, पढ़े वही विद्वान ॥
है सारा जग विद्यागार ।
भाई पढ़ले यह संसार ॥११९॥

अनुभव और तर्क दो आँखें अञ्जन सारे वेद ।
देख सके सो देखे भाई काला और सफ़ेद ॥
अद्भुत पुण्य पाप भंडार ।
भाई पढ़ले यह संसार ॥१२०॥

कौन पढ़ा सकता है तुझको तुझमें अगर न ज्ञान ।
सूर्य करे क्या जब हों अपनी आँखें घूक समान ॥
तब गुरु का प्रयत्न बेकार ।
भाई पढ़ले यह संसार ॥१२१॥

सुन सब की कर अपने मनकी पर विवेक रख संग ।
अंग अंग में यौवन उछले उछले ज्ञान--तरंग ॥
निज पर सबका हो उद्धार ।
भाई पढ़ले यह संसार ॥१२२॥

दोहा

जो कहना था कह चुका अब तू स्वयं विचार ।
एक बात में भूल मत चारों ओर निहार ॥१२३॥

क्या कहते सब धर्म हैं क्या कहते गुरु लोग ।
क्या कहता तेरा हृदय कर सब का संयोग ॥१२४॥

देख सत्य भगवान का पूर्ण विराट स्वरूप ।
क्षीरोदधि को देखले छोड़ अन्धतम कूप ॥१२५॥

उस विराट भगवान के अंग अंग प्रत्यंग ।
हैं विचित्र सबमें भरे दुनिया के सब रंग ॥१२६॥

अंग अंग में रम रहे कोटि कोटि ब्रह्मांड ।
दिव्य दृष्टि से देखले जग के सारे कांड ॥१२७॥

सर्व धर्म सब नीतियाँ सर्व योग पुरुषार्थ ।
देख नियम यम ज्ञान सब दिव्य दृष्टि से पार्थ ॥१२८॥

(पीयूषवर्ष)

सत्य शिव सुन्दर अहिंसा साथ है ।
अर्ध-नारीश्वर जगत का नाथ है ।
प्राप्त कर उसका सुदर्शन आज तू ।
जानले कर्तव्य के सब साज तू ॥१२९॥

कवि— (हरिगीतिका)

श्रीकृष्ण का उपदेश सुनकर पार्थ जब ध्यानी हुए ।
भगवान के दर्बार का दर्शन हुआ ज्ञानी हुए ।
देखा विराट स्वरूप उनने अश्रु तब बहने लगे ।
रोमाञ्च-अञ्चित-अंग बन श्रीकृष्ण से कहने लगे ॥१३०॥

अर्जुन— ललितपद

पुरुषोत्तम हो रहा मुझे अब दर्शन सत्येश्वर का ।
करता हूं अपूर्व दर्शन मैं नारी का या नर का ॥
दक्षिणांग भगवान सत्य हैं चेतन जग निर्माता ।
वामांगी भगवती अहिंसा यम नियमों की माता ॥१३१॥
भिन्नाभिन्न अपूर्व ज्योति यह देख रहा हूँ मात्र ।
कोटि कोटि रवि शशि बनते हैं पा पाकर जिसका लव ।
नित्य दर्शनार्थी योगी जन जिसमें योग रमाते ।
जो उसका दर्शन पाते वे मुक्ति भुक्ति सब पाते ॥१३२॥
अंग अंग में योग भरे हैं अणु अणु सुखकी छाया ।
नख नख में पुरुषार्थ तेज है अन्त न जिसका आया ॥
तीर्थंकर अवतार रोम-कूपों में भरे हुए हैं ।
धर्मबिन्दु से धर्म अनेकों जिनसे झरे हुए हैं ॥१३३॥

धर्म यहां है अर्थ यहां है काम यहां दिखलाता ।
भोग यहां है, विविध योग हैं जिनका अन्त न आता ।
भक्तियोग है सांख्ययोग है कर्मयोग पाता हूँ ।
सकल धर्मों के विविध रूप से चकित हुआ जाता हूँ ॥१३४॥

प्रेम यहाँ है व्याप्त सकल रूपों में है उसकी जय ।
सब विरोध हैं शान्त यहाँ पर सब में हुआ समन्वय ।
संशय नष्ट हुए सब मेरे अब विराट-दर्शन से ।
आज्ञा पालन में तत्पर हूं अब मैं तन से मन से ॥१३५॥

इस विराट प्रभु के शुभ दर्शन तुमने मुझे कराये ।
भूला था कर्तव्य पंथ मैं तुम सत्पथ पर लाये ॥
कितना है उपकार तुम्हारा कह कर क्या बतलाऊँ ।
जीवन भर उपकार तुम्हारे गाऊँ पर न अघाऊँ ॥१३६॥

[हरीगीतिका]

माधव सुनाया आज तुमने जो अमर सन्देश है ।
वह क्लेशहर है सत्यपथ है अब न संशय लेश है ॥
उस पर चलूंगा अब सदा पीछे न पाओगे मुझे ।
कर्तव्य सब अपने करूंगा जो बताओगे मुझे ॥१३७॥

कवि— पद्मावती

झुकगये पार्थ यों कहकर के मन में गीता का ध्यान किया ।
हँसते हँसते योगेश्वर ने अमरत्व दिया आशीष दिया ॥
बनगये पार्थ यों अमरतुल्य था कर्मयोग पीयूष पिया ।
फिर निर्भय हो हुंकार किया अपने कर में गांडीव लिया ॥१३८॥

तब गर्ज उठे भीमादि वीर "आना हो जिनको आजायें।
अब तो अत्याचारी अपने अत्याचारों का फल पायें॥"
जयघोष हुआ चहुँओर वहाँ आगे पीछे दाएँ बाएँ।
झनझना उठे सब अस्त्र शस्त्र हुंकार उठीं सब सेनाएँ॥१३९॥

हैं जहाँ कृष्ण से योगनाथ अर्जुन से हैं बलवीर जहाँ।
या जहाँ धनुर्धर पार्थ वीर हैं कृष्ण सरीखे धीर जहाँ॥
है धर्म वहाँ सत्कर्म वहाँ सन्नीति वहाँ सत्प्रीति वहाँ।
है न्याय वहाँ है विजय वहाँ योगी जीवन की रीति वहाँ॥१४०॥

(९५८)

समाप्त

